मन की प्रचण्ड शक्ति
-श्रीराम शर्मा आचार्य

मन की प्रचंड शक्ति

*

लेखक :
पं. श्रीराम शर्मा आचार्य

*

प्रकाशक :
युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट
गायत्री तपोभूमि, मथुरा
फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९
मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९
फैक्स नं०- २५३०२००

पुनरावृत्ति सन् २०१५ मूल्य : १५.०० रुपये

दो शब्द

सृष्टिकर्त्ता ने मनुष्य को एक अद्भुत-अपूर्व वस्तु प्रदान की है। वह वस्तु है उसका 'मन'। 'मन' में अनंत शक्ति निहित है। मनुष्य अपनी इस शक्ति का सदुपयोग भी कर सकता है और दुरुपयोग भी।

कठिनाई यह है कि आज अधिकांश मनुष्य अपने 'मन' की आश्चर्यजनक शक्तियों से अपरिचित हैं। फलतः वे मन की शक्तियों का जितना सदुपयोग किया जा सकता है, वह तो कर नहीं पाते अपितु दुरुपयोग ही करते उन्हें सर्वत्र देखा जा रहा है।

मातृसत्ता श्रद्धांजलि पुस्तक माला के इस ८२वें पुष्प में मन की अपरिमित शक्तियों की एक झलक मात्र दी जा रही है। जो जिज्ञासु हैं वे आगे का मार्ग स्वतः ढूँढ़ लेंगे।

लेख क्रम

मन की प्रचंड शक्ति

साधारण लोग शरीर की शक्ति को ही सर्वोपरि मानते हैं । उनकी समझ में जो आदमी जितना अधिक हट्टा-कट्टा, पुष्ट और मजबूत स्नायुओं वाला होता है, वह उतना ही शक्तिशाली होता है । जो मनुष्य चार-छः मन बोझे को आसानी से एक जगह से उठाकर दूसरी जगह रख सकता है, मोटरगाड़ी को पकड़ कर रोक सकता है, लोहे की मोटी छड़ को मरोड़ सकता है, उसे बहुत बड़ा बलवान माना जाता है । एक ऐसा मनुष्य जो बीस सेर बोझा भी नहीं उठा सकता, ऐसे शक्तिशाली व्यक्ति को ललकार देता है और उसे अपनी आज्ञानुसार चलने को बाध्य कर देता है । तब हमको अनुभव होता है कि संसार में स्थूल शक्ति से भी बढ़कर कोई सूक्ष्म शक्ति काम कर रही है और वही वास्तव में समस्त कार्यों का मूल कारण है ।

विचार किया जाय तो संसार का आदि स्वरूप सूक्ष्म ही है और उसी से क्रमशः स्थूल का विकास हुआ है । इस प्रकार हम सूक्ष्म को स्थूल का कारण कह सकते हैं और कारण को जान लेने तथा स्ववश कर लेने पर कार्य को सफल बना सकना कुछ भी कठिन नहीं रहता । एक समय था जब मनुष्य केवल अपने हाथ-पैरों की या हाथी, घोड़े, बैल आदि की शक्ति को ही प्रधान मानता था और उसी से बड़े-बड़े कार्य सिद्ध करता था । उस समय अगर उनको कोई सौ मन की वस्तु अपने स्थान से हटानी पड़ती तो उसमें सौ आदमी ही लग जाते थे अथवा अनेक हाथी, बैलों आदि को एक साथ जोतकर इस कार्य को पूरा कराया जाता था । पर कुछ समय पश्चात जब मनुष्य को भाप जैसी सूक्ष्म वस्तु का ज्ञान हुआ तो उसकी सहायता से अकेला मनुष्य ही हजार-हजार टन वजन की वस्तुओं को हटाने में समर्थ हो गया । इससे

आगे चलकर मनुष्य को बिजली की शक्ति का ज्ञान हुआ जो भाप की शक्ति से भी सूक्ष्म थी । इससे मनुष्य को ऐसी शक्ति प्राप्त हुई कि वह सैकड़ों मील दूर बैठकर ऐसे-ऐसे कार्यों को पूरा करने लगा जिसे पहले दो-चार हजार आदमी भी कठिनाई से कर सकते थे । अब वर्तमान समय में मनुष्य अणुशक्ति को हस्तगत कर रहा है जो बिजली से भी अत्यंत सूक्ष्म है । इसकी सहायता से अब यह आशा की जा रही है कि मनुष्य बड़े-बड़े पर्वतों और सागरों की भी काया पलट कर सकेगा और आकाश स्थित ग्रहों पर भी अधिकार जमा सकेगा ।

इतना होने पर भी ये सब भौतिक शक्तियाँ हैं । इन सबका उद्गम भौतिक पदार्थों से होता है और उनका प्रभाव भी भौतिक जगत तक ही सीमित रहता है । हमारा मन इन भौतिक पदार्थों की अपेक्षा कहीं अधिक सूक्ष्म है, इसलिए स्वभावत: वह इन सब की अपेक्षा अधिक शक्ति का भंडार है । यह सच है कि लोगों को न तो मन की शक्तियों का ज्ञान है और न वे उससे काम लेने की विधि जानते हैं, पर यदि हम इस विषय में चेष्टा करें तो मन की शक्ति से ऐसे-ऐसे कार्य कर सकते हैं जो उपर्युक्त भौतिक शक्तियों से असंभव हैं । आजकल जो लोग 'मैसमेरिज्म', 'हिप्नोटिज्म', 'विचार-संक्रमण' (थाट ट्रांसफरेंस) आदि के चमत्कार दिखलाते हैं, वे मन की शक्ति के साधारण कार्य होते हैं । पर इन्हीं के द्वारा कैसे-कैसे असंभव समझी जाने वाली बातें कर दिखाई जाती हैं, इनका वर्णन स्वामी विवेकानंदजी ने एक स्थान पर किया था । उन्होंने अपने एक भाषण में बतलाया-

"मैंने एक बार एक ऐसे मनुष्य के बारे में सुना जो किसी के प्रश्न का उत्तर प्रश्न सुनने के पहले ही बता देता था । मुझे यह भी बतलाया गया कि वह भविष्य की बातें बतलाता है । मुझे उत्सुकता हुई और अपने कुछ मित्रों के साथ मैं वहाँ पहुँचा । हममें से प्रत्येक ने पूछने का

प्रश्न अपने मन में सोच लिया था और कोई गलती न हो इस ख्याल से उन प्रश्नों को कागज पर लिखकर अपने जेब में भी रख लिया था। ज्यों ही हममें से एक वहाँ पहुँचा, उसने हमारे प्रश्न और उनके उत्तर बतलाने शुरू कर दिए। फिर उस मनुष्य ने एक कागज पर कुछ लिखा, उसे मोड़ा और उसके पीछे की तरफ मेरे हस्ताक्षर कराये। तब वह बोला- "इसे पढ़ो मत, अपने जेब में रख लो जब तक कि मैं इसे न मांगूँ।" उसने ऐसा ही एक-एक कागज सबको दिया और यही बात कही। फिर उसने कहा कि अब तुम किसी भी भाषा का कोई वाक्य या शब्द अपने मन में सोच लो। मैंने संस्कृत का एक लंबा वाक्य सोच लिया। वह मनुष्य संस्कृत बिल्कुल न जानता था। उसने कहा-"अब अपने जेब में से उस कागज को निकालो।" कैसा आश्चर्य! वही संस्कृत का वाक्य उस कागज पर लिखा था और नीचे यह भी लिखा था कि जो कुछ मैंने इस कागज पर लिखा है वही यह मनुष्य सोचेगा। और यह कागज उसने मुझे एक घंटा पहले लिखकर दे दिया था। हममें से दूसरे ने उसी तरह अरबी भाषा का एक फिकरा सोचा। अरबी भाषा जानना उस मनुष्य के लिए और भी असंभव था। वह फिकरा था 'कुरान शरीफ' का। लेकिन मेरा मित्र क्या देखता है कि वह भी उसके जेब में रखे कागज पर पहले से लिखा हुआ रखा है। हममें से तीसरा साथी था डाक्टर। उसने जर्मन भाषा की किसी डाक्टरी पुस्तक का वाक्य अपने मन में सोचा। उसके जेब के कागज पर भी वही वाक्य लिखा हुआ निकला।"

"यह सोचकर कि मैंने पहले कहीं धोखा न खाया हो, कई दिन बाद मैं फिर दूसरे मित्रों को साथ लेकर वहाँ गया। पर इस बार भी उसने वैसी ही आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त करके दिखलाई।"

इस प्रकार के उदारहणों की कोई कमी नहीं है। उपर्युक्त उदाहरण हमने इसलिए दिया है क्योंकि यह एक ऐसे महापुरुष के मुख से निकला

है जिसकी सचाई पर कोई अविश्वास नहीं कर सकता । यह बात वैसे बड़ी आश्चर्यजनक सी लगती है, पर यह दूसरों के दिमाग में उठने वाले विचारों को जान लेने और अपने विचारों को उनके दिमाग में प्रविष्ट करा देने की विद्या के सिवाय कुछ नहीं है । योग शास्त्र के अनुसार यह आध्यात्मिक उन्नति की दूसरी सीढ़ी है जो मनोमय कोष पर कुछ अधिकार होने से प्राप्त हो सकती है । प्रत्येक मनुष्य का मन संसार के समिष्ट मन का अंशमात्र है और इसलिए प्रत्येक मन दूसरे हर एक मन से संलग्न है । मन एक विश्वव्यापी तत्व है । इसी अखंडता के कारण हम अपने विचारों को एकदम सीधे, बिना किसी माध्यम के, आपस में संक्रमित कर सकते हैं और इसके द्वारा छोटे-मोटे चमत्कार ही नहीं दिखला सकते, वरन् बहुसंख्यक व्यक्तियों के मन को इच्छानुकूल मार्ग की ओर मोड़ सकते हैं । जो महापुरुष किसी राष्ट्र का निर्माण करते हैं, या कोई अद्‌भुत शक्ति उत्पन्न कर देते हैं, वह इसी शक्ति का प्रभाव होता है । वह लोग इस शक्ति के लिए योगियों या मेस्मराइज करने वालों के समान कोई अभ्यास नहीं करते वरन् यह शक्ति और प्रभाव उनमें प्रकृतिदत्त होते हैं ।

मनुष्य इस प्रकार मन की शक्ति को कहाँ तक बढ़ सकता है इसका कोई अंत नहीं है । इस प्रकार जब हम अपने मन की बढ़ी शक्ति को किसी एक विषय में लगा देते हैं, तो उसमें आश्चर्यजनक उन्नति करके दिखला सकते हैं । भारतवर्ष के ऋषि-महर्षियों ने बिना कालेजों और विश्वविद्यालयों की शिक्षा प्राप्त किए जो अद्‌भुत आविष्कार किए थे और वैज्ञानिक सिद्धांतों को खोज निकाला था उसका मूल इसी प्रकार की मानसिक शक्ति में था । गणित, ज्योतिष, चिकित्सा, रसायन शास्त्र, भौतिक विज्ञान आदि अनेक महत्वपूर्ण शास्त्रों की रचना उन लोगों ने अधिकांश में इसी प्रकार की थी । इतना ही नहीं उनमें से अनेक ने साधारण धातुओं को सोने के रूप में बदलने, अपने पंचभौतिक शरीर को

लगभग अमर बनाने, बिना किसी यंत्र के आकाश में उड़ने आदि जैसे असंभव माने जाने वाले कार्यों को भी पूरा कर दिखाया था । पर चूँकि इस प्रकार के कार्यों में उनकी मानसिक शक्ति ही प्रधान थी, वर्तमान समय के अनुसार बाह्य यांत्रिक साधनों का उनमें विशेष संपर्क न था, यही कारण है कि उस समय इन विद्याओं और विधियों का वैसा सार्वजनिक रूप से प्रचार न हो सका जैसा कि हम आजकल देख रहे हैं । पर इससे यह नहीं कहा जा सकता कि वर्तमान युग विज्ञान की दृष्टि से विशेष उन्नति का है । इस समय वैज्ञानिक आविष्कारों की सार्वजनिकता का परिणाम यह हुआ है कि उनमें से अधिकांश का दुरुपयोग हो रहा है और प्रत्येक आविष्कार रुपया कमाने का, स्वार्थ साधन का जरिया बन रहा है । अंत में बढ़ते-बढ़ते यहाँ तक नौबत आ गई है कि स्वार्थी और गैर जिम्मेदार व्यक्ति अणुबम और हाइड्रोजन बम जैसे विनाशकारी साधनों के अधिकारी बन गए हैं और संसार के अस्तित्व को ख़तरे में डाल रहे हैं । यही कारण था कि भारत के प्राचीन विद्वान और वैज्ञानिक शक्ति संपन्न व्यक्ति ऐसे रहस्यों को केवल अधिकारी व्यक्तियों को बतलाते थे और बतलाने के पहले उनकी हर प्रकार से परीक्षा ले लेते थे ।

इसमें संदेह नहीं कि मन की सामर्थ्य अपार है और यदि हम वास्तव में मन की शक्ति बढ़ाकर अपनी और दूसरों की उन्नति के लिए उसका प्रयोग करें तो संसार का बड़ा कल्याण हो सकता है ।

मानसिक बल और उसका विकास

पूर्ण परिश्रम से कार्य करने वाले व्यक्ति को देखकर साधारण मनुष्य सोचते हैं कि इसका शरीर कितना फुर्तीला है एवं कार्य करने में इसके अमुक अंग किस तरह लगे हुए हैं । किन्तु यह सच्चा निर्णय नहीं हुआ । मनुष्य की वास्तविक शक्ति वह नहीं है जो आँखों से दिखाई दे । मनुष्य

की मुख्य शक्ति है बुद्धिबल एवं मानसिक बल जो फिर स्थूल रूप में चक्षुओं द्वारा देखी जाती है ।

किसी कार्य को करने में एक हाथ लगा रहता है किन्तु हाथ की स्वयं की कोई शक्ति नहीं है । वह हाथ बुद्धि एवं मानसिक बल से संबंधित होता है और कार्य में व्यस्त रहता है । उक्त दोनों शक्तियों के अभाव में शरीर एवं अन्य वस्तुओं को अणुमात्र भी नहीं हिलाया जा सकता । इन दोनों शक्तियों के सामंजस्य से ही पूर्ण पुरुष का निर्माण होता है । बुद्धि किसी निश्चित लक्ष्य की ओर जाने का सही निर्णय करती है, फिर मानसिक बल स्थूल अंगों से एकता प्राप्त कर उसे पूर्ण करता है ।

इसके तत्व को समझना अत्यावश्यक है । तब ही मानसिक शक्ति की महत्ता को समझकर इसके विकास का मार्ग अपनाया जा सकता है । किसी भी कार्य को पूर्ण होने में साधारणतया दो स्थितियाँ होती हैं । प्रथम उसके संबंध में विचार करके उसका निर्णय करना कि हमें अमुक कार्य करना है । यह कार्य बुद्धि का है । बुद्धि अपनी विचार शक्ति से किसी कार्य का निर्णय करती है । फिर उस निर्णय को या विचार को क्रियात्मक रूप देने के लिए मानसिक बल की आवश्यकता पड़ती है ।

मानसिक बल उस कार्य को संपन्न करता है और इस प्रकार सफलता या सिद्धि उपलब्ध होती है । बुद्धिमान मनुष्य वही है जो पहले अपनी बुद्धि से किसी कार्य का निर्णय करे और फिर उसे पूर्ण करने में मानसिक बल का उपयोग करे । केवल विचारों में बहते रहने वाले व्यक्ति जीवन में सफल नहीं होते । इसी तरह बिना बुद्धि का उपयोग किए जो कुछ सामने आ जाय उसी में जो अंधे बनकर लग जाँय वे पशुवत् ही हैं, अंत में अपनी प्रकृति प्रदत्त शक्ति को यों ही छिन्न-भिन्न करके असफल होते हैं । अतः किसी कार्य की सफलता के लिए बुद्धिबल और मानसिक बल की आवश्यकता है । अच्छे-अच्छे

विचारकों एवं कवियों में मानसिक बल भी हो तो वे बहुत कुछ सुधारात्मक एवं परिवर्तनकारी कार्य कर सकते हैं । केवल विचार ही विचार से कुछ नहीं होता, प्रधानता तो कार्य की है ।

अन्य कार्यों की तरह स्वास्थ्य सुधार एवं चिकित्सा में भी मानसिक बल का महत्वपूर्ण स्थान है । स्वास्थ्य रक्षा के लिए भिन्न-भिन्न साधनों को ढूँढ़ना बुद्धि का काम है और उन्हें उपयोग में लाने का कार्य मानसिक शक्ति का है । कार्य की सफलता तक दोनों क्रम ठीक चलते रहें तो सफलता अवश्य मिलती है ।

मनुष्य में मानसिक बल एक महत्वपूर्ण शक्ति है । मानव जीवन में होने वाला सारा खेल इसी शक्ति का पसारा है । जिस व्यक्ति में मानसिक बल जितनी बड़ी मात्रा में होता है वह उतना ही कार्यशील एवं दक्ष होता है । भले ही बुद्धि बल की कमी या वातावरण वश या संस्कार के प्रभाव से वह अच्छे या बुरे कार्य में प्रवृत्त हो किन्तु वह उसमें तेजी से बढ़ता जायगा ।

मानसिक शक्ति तत्वरूप से स्वभाव से सभी व्यक्तियों में स्थित होती है । लोगों की यह धारणा गलत है कि प्रकृति जिसको बलवान या संपन्न अथवा हीन बनाती है उसे जन्म से ही उस तरह का उत्पन्न करती है । साथ ही इस तर्क में सबसे बड़ी गलती यह है कि मनुष्य या तो आखिरी अथवा आगे अर्थात् दोनों सिरों को ही प्रधानता देते हैं मध्यम मार्ग का अनुसरण नहीं करते जिससे हीन को संपन्न बनाया जा सके । कमी को पूरा किया जा सकता है, क्योंकि तत्व रूप से तो मानसिक बलहीनता एवं महानता दोनों व्यक्ति में स्वभाव से स्थित हैं । केवल कर्मक्षेत्र की वजह से एक व्यक्ति महान् बन जाता है और एक दीन-हीन यहां तक कि अपना शरीर निर्वाह नहीं कर सकता ।

निर्बलता को अथवा हीनता को दूर करने के लिए व्यक्ति पहले

अपनी वर्तमान स्थिति पर विचार करे और कहाँ तक पहुँचना है इसका निर्णय करे । इसके लिए सर्वप्रथम एक छोटा सा लक्ष्य निश्चित करना चाहिए । जिस तरह मैट्रिक पास करने के लिए पहली, दूसरी, क्रमशः दस कक्षाओं को पास करना पड़ता है, उसी तरह छोटे-छोटे लक्ष्य निर्धारित करना चाहिए । उस छोटे से लक्ष्य पर अपने चित्त को केन्द्रित करके सफलता के लिए प्रयत्न करना चाहिए । जब वह लक्ष्य पूरा हो जाय तो अपने उसी पथ पर दूसरा लक्ष्य निर्धारित कर उसके लिए भी इसी तरह प्रयत्न करना चाहिए । इस तरह ज्यों-ज्यों सफलता मिलती जाय अभ्यास करने वाले व्यक्ति को अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते जाना चाहिए ।

मानसिक बल का संपादन करने अथवा विकसित करने के लिए इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि पहले पहल बड़े कार्य को लक्ष्य बनाकर उसमें नहीं उलझना चाहिए । क्योंकि शक्ति के अल्प होने के कारण बड़े कार्य में सफलता नहीं मिलती और प्रारंभ में ही निराशा होती है । मानसिक बल बढ़ना तो दूर रहा उल्टा हताश होना पड़ेगा । अतः सर्वप्रथम सरल मार्ग का अनुसरण करते हुए आगे बढ़ना चाहिए । इस तरह से आखिरी मंजिल तक पहुँचा जा सकेगा ।

निग्रहीत मन की चमत्कारी क्षमता

सूर्य की स्वाभाविक धूप जो शरीर पर पड़ती है कठिन गर्मी में भी उसे शरीर सहन कर लेता है । किरणें बिखरी हुई होती हैं, अतः वे अपना सामान्य ताप ही दे पाती हैं । किन्तु नतोदर शीशे के लेंस से एक इंच स्थान की धूप को केन्द्रित कर दिया जाय तो उस ताप को शरीर का कोई भी अंग सहन न कर सकेगा । कोई भी वस्त्र उसमें बिना जले न रहेगा । उससे कहीं भी अग्नि पैदा की जा सकेगी और विविध प्रयोजन पूरे किए जा सकेंगे ।

सूर्य-किरणों की केन्द्रीभूत शक्ति की तरह निग्रहीत मन की शक्ति और सामर्थ्य भी अतुलित है । अस्त-व्यस्त मनोदशा से जीवन का कोई विशेष उद्देश्य पूरा नहीं होता । सामान्य श्रेणी के जीवों की तरह ही वह आहार-विहार की सांसारिक बातों में ही उलझा रहता है किन्तु यदि उसे एक लक्ष्य पर स्थिर कर दिया जाय तो उससे साधारण जीवन में भी कई गुनी शक्ति दिखाई देने लगेगी और मनचाही कल्पना पूरी की जा सकेगी ।

साधारण लोगों के मन की कोई निश्चित गति नहीं होती । तालाब के पानी की तरह जिधर से हवा चली उधर से, वैसी ही कम-ज्यादा वेग वाली लहरें उठने लगेंगी । प्रायः लोग अपने से बड़े, पास-पड़ोस और उस समाज के व्यक्तियों के आचरणों का ही अनुकरण करते रहते हैं और उतने ही क्षेत्र में विचार उठते रहते हैं । इससे मनुष्य के जीवन में कोई विशेषता नहीं आती । किन्तु यदि मन को संकल्पपूर्वक किसी विशेष लक्ष्य की पूर्ति में लगा दिया जाता है तो उसमें समुद्री ज्वार-भाटे की तरह ऐसी शक्ति भर जाती है कि कठिन दिखाई पड़ने वाले कार्य भी आसानी से पूरे हो जाते हैं । लोग उनकी सफलता पर आश्चर्य प्रकट करते हैं, यह सब उन्हें चमत्कार-सा लगता है । पर चमत्कार-सी दिखाई देने वाली यह सफलता एकाग्र मन की संग्रहीत शक्ति के परिणाम से और कुछ अधिक नहीं होती । मन की तन्मयता में वह शक्ति है जो बड़े से बड़े कार्य आसानी से पूरा कर सकती है ।

मन में उठने वाली इन विचार तरंगों को स्वेच्छापूर्वक विचरण न करने देना चाहिए । क्योंकि निरंतर उठते रहने वाले विचार अच्छे-बुरे जैसे भी होंगे वैसे ही तत्व वे सूक्ष्म जगत से आकर्षित करते रहेंगे और वह विचार स्वभाव में परिणत होने लगेगा । बाह्य रूप से शारीरिक परिवर्तन भले ही दिखाई न पड़ें पर यदि कुविचारों में ही मन रस लेता

रहे तो बुरे स्वभाव का परिपक्व हो जाना अवश्यंभावी है । इस अवस्था में मनुष्य अपना नैतिक पतन तो करता ही है औरों को भी पथभ्रष्ट करने का एक सजीव केन्द्र सा बन जाता है । इस तरह के विचारों वाले मनुष्य की समीपता जिसे भी मिलेगी उनके भी दुष्ट और दुराचारी हो जाने की संभावना रहेगी ।

मन:शक्ति के इस दूषित पक्ष को देखकर ही उसे स्वेच्छाचारी न होने देने की सलाह दी गई है । शास्त्रकारों ने निरंतर अभ्यास द्वारा उसे नियंत्रण में रखने की शिक्षा दी है । उन्हें यह मालूम था कि दृश्य जगत के संपर्क में रहने के कारण मनुष्यों की वासना एवं तृष्णा परक आकांक्षाओं का उठना स्वाभाविक है । उन्हें जिधर आकर्षण दिखाई देगा उधर ही दौड़ेंगी । मन को स्थूल भोगों में ही अधिक सुख मिलता है अत: उसकी इच्छाएँ, आकांक्षाएँ, कल्पनाएँ तथा विचारणाएँ भी वैसी ही अधोगामी होंगी । हीन विचारों के कारण मनुष्य के जीवन में चंचलता, अस्थिरता, क्षुद्रता और निकम्मापन आता है फलस्वरूप यह जीवन अनेक कष्टों एवं उद्वेगों में फँसा रहता है । उस उलझन में न किसी तरह की भौतिक उन्नति ही हो पाती है, न आध्यात्मिक लक्ष्य ही पूरा हो पाता है ।

अनियंत्रित मन प्रयोग रूप में अनेक आकांक्षाएँ बनाता-बिगाड़ता रहता है । कभी वह असंख्य धन प्राप्त करने की इच्छा करता है, कभी विद्वान होने का सपना देखता है । पहलवान बनने, नेता बनने, प्रतिष्ठा पाने, धनी होने, भोग भोगने की अनेक योजनाएँ वह बनाया करता है । यह योजनाएँ स्थिर नहीं होती हैं । औरों के जीवन की प्रतिक्रिया स्वरूप ही वह इन लालच भरे सपनों के पीछे अंधी दौड़ लगाया करता है । पर उसकी कोई भी आकांक्षा निर्दिष्ट नहीं होती । हृदय की संवेदनशीलता के कारण वह प्रत्येक अवस्था में अपने आपको ही ठीक समझता है, पर इन

अनेक कामनाओं का वह समन्वय नहीं कर पाता । एक ही समय पर कोई वक्ता बनना चाहे और पहलवान बन सके यह असंभव है । एक बार में एक ही क्रिया को अधिक सुविधा और सफलतापूर्वक पूरा किया जा सकता है । अभी खाना, अभी पानी, अभी घर, अभी दुकान, अभी रेल, अभी मोटर–सब बातें एक साथ नहीं होतीं । उन्हें क्रमिक रूप से पूरा करने से ही कोई उचित व्यवस्था बन पाती है । इनका क्रम किस प्रकार हो ? कौन सी आकांक्षा किस सीमा तक संजोकर रखी जाय ? उसकी पकड़ कितनी मजबूत हो ? इन सब पर भली प्रकार विचार करने से ही जीवन–दशा को सुनियोजित रखा जा सकता है ।

सबसे महत्त्व की बात यह है कि एक लक्ष्य के लिए अनेक आकांक्षाएँ परस्पर पूरक कैसे बनें ? इस स्थिति को यदि विचारपूर्वक समझ लिया जाय तो अपने अभीष्ट मनोरथों को लोग बड़ी आसानी से पूरा कर सकते हैं । इच्छाएँ जीवन के विशिष्ट पहलू व परिस्थितियों से बँधी होती हैं, अतः उनका योग्य निर्धारण तथा उपयोग संपूर्ण जीवन का एक केन्द्र बिन्दु, एक लक्ष्य निश्चित करने में है । यह लक्ष्य जितना महान होगा, उच्चस्तरीय, भव्यपूर्ण जीवन को दृष्टिगत रखकर निर्धारित, सर्वांगीण और व्यापक होगा । इच्छाओं और आकांक्षाओं का वेग भी उतनी ही मजबूती तथा कठोरता से सम्हालने की जरूरत पड़ेगी । छोटी ऊँचाई से गिरने पर चोट की उतनी आशंका नहीं रहती जितनी बड़ी ऊँचाई से गिरने पर लग सकती है । ऊँचे लक्ष्यों को साधने के लिए इसीलिए अधिक लगन, गहन तत्परता और कठोर मानसिक नियंत्रण की आवश्यकता पड़ती है । यदि मन को साध लिया जाय और वह रुचिपूर्वक लक्ष्य पूर्ति में लगा रहे तो कठिनाइयाँ सरल हो जाती हैं और मनुष्य अभीष्ट सफलता प्राप्त कर लेता है ।

पर यह कार्य उतना सरल नहीं है । लक्ष्य पूर्ति के मार्ग में अनेक

द्विविधाएँ तथा उलझन भरे प्रश्न आते हैं जिनका निराकरण करना कठिन हो जाता है । एक प्रश्न के दो पहलू हो जाते हैं, दोनों ही उचित और आवश्यक प्रतीत होते हैं पर चुनाव एक का ही करना होता है । कभी-कभी ऐसा होता है कि आवश्यकता से भिन्न कोई बात सामने अटल प्रारब्ध बनकर आ जाती है उस समय यह अनुमान करना कठिन हो जाता है किसे ग्रहण करें और किसे छोड़ दें । पर यदि मन स्वस्थ और नियंत्रित है तो वह अपने विवेक-बल से अच्छे-बुरे का, उचित-अनुचित का ज्ञान प्राप्त कर परिस्थितियों को काबू में ला सकता है । आवश्यकता सिर्फ इतनी है कि ऐसी स्थिति में विवेक का अंकुश, मनः नियंत्रण इतना कठोर हो कि उसे प्रलोभनों की ओर झुकने न दिया जाय । क्योंकि मन प्रायः अपनी रुचि के ही निर्णय निकालता है जो लक्ष्य पूर्ति में बाधक भी हो सकते हैं ।

आशा, विश्वास, दृढ़ता, तन्मयता, कर्मठता, धैर्य और कष्ट सहिष्णुता मनोबल के प्रतीक हैं । मन को संतुलित अवस्था में रखने, एक ही लक्ष्य की ओर उसे प्रेरित करने में इन गुणों का प्रादुर्भाव होता है और आंतरिक महानता विकसित होने लगती है । इन गुणों से मन की तमाम शक्तियाँ केन्द्रीभूत होकर एक प्रचंड दावानल-सी बन जाती हैं । ऐसे बलवान मन को चाहे जहाँ लगा दिया जाय उधर से ही सफलता का मार्ग खुलता हुआ दिखाई देगा । निराशा, उद्विग्नता, चंचलता और अश्रद्धा-यह मनोविकार हैं । ईर्ष्या, विद्वेष, कुढ़न, चिड़चिड़ापन आदि से मानसिक शक्तियों का पतन होता है और जीवन में किसी विशेषता या महत्ता के दर्शन नहीं होते । यह दोनों ही पहलू मनष्य के सामने हैं जिसे चाहें चुन लें और वैसा ही सफल या असफल जीवन बना लें ।

मन बड़ा शक्तिशाली है । पर उससे कोई विशिष्ट लाभ तभी प्राप्त किया जा सकता है जब उसे पूर्ण नियंत्रण में रखा जाय । जीवन-लक्ष्य

की प्राप्ति अथवा सांसारिक सुख-सुविधाएँ प्राप्त करने के लिए भी यह शर्त अनिवार्य है । हमारा मन वश में हो जाय तो इस जीवन को स्वस्थ व समुन्नत बना सकते हैं और पारलौकिक जीवन का भी मार्ग प्रशस्त कर सकते हैं ।

मन को अपना मित्र बनाएँ

जिस प्रकार ज्ञान का कोई स्वरूप नहीं है वह मन की ही एक शक्ति है उसी प्रकार मन का भी कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है । इच्छा और विचार करने की शक्ति का ही नाम मन है । इसलिए मनोनिग्रह के लिए, मन को वश में रखने के लिए सर्वोत्तम उपाय यह है कि उसे निरंतर विचार-निमग्न रखा जाय । एक विचार की दूसरे विचार से काट-छाँट और स्थानापत्ति की जाती रहे ।

मन में अधिकांश वही इच्छाएँ उठती हैं जो तत्काल या अल्प काल में सुख दे सकती हैं । इंद्रियों के सुख उनमें प्रधान हैं । मनुष्य का मन जब तक इन नन्हीं-नन्हीं इच्छाओं में फँसा रहता है तब तक न उसकी शक्ति प्रकट होती है, न मनुष्य जीवन की उपयोगिता, इसलिए यह आवश्यक है कि हम आध्यात्मिक जीवन का भी चिंतन किया करें । वैराग्य ऐसे ही चिंतन का नाम है जिसमें हम लोकोत्तर जीवन की कल्पना और सत्य जानने का प्रयास करते हैं । मन, बुद्धि, चित्त आदि शक्तियाँ मिली भी मनुष्य को इसलिए हैं कि मनुष्य अपना पारमार्थिक उद्देश्य हल कर सके ।

भगवान् कृष्ण ने भी गीता में वैराग्य को मनोनिग्रह का उपाय बताया है । महर्षि पातंजलि ने योगशास्त्र में '**अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः**'-'वैराग्याभ्यास से मन का निरोध होता है' - यह सूत्र लिखा है । अभ्यास से उद्धत मन वश में होता है, वैराग्य से उसे निर्मल,

कोमल और शांत बनाया जा सकता है ।

हुआ यह है कि हमने अपने जीवन को बहिर्मुखी बना लिया है । उतना ही सोचते हैं जितना व्यक्त है, दिखाई देता है, पर बहुत कुछ ऐसा भी है जो दिखाई नहीं देता पर उसका स्वरूप है । वह शाश्वत सत्य भी है । अनेक वस्तुएँ ऐसी हैं जिनसे इस जीवन में वैभव और इंद्रिय भोग का सुख दिखाई देता है । पर जन्म-मरण का भय, प्रियजनों का बिछोह, खांसी, बुखार-बीमारी, कटुता-कलह, अत्याचार, भय, विद्वेष, प्राकृतिक प्रकोप यह सब मनुष्य के बहिर्मुखी जीवन का गतिरोध करते हैं, आवश्यक है कि इनसे मनुष्य क्षुब्ध हो और दुःख अनुभव करे । इन संपूर्ण अभावों से परे जो सनातन आनंद की स्थिति है वह कैसे प्राप्त हो ? जन्म-मृत्यु का बंधन और भय कैसे मिटे ? शरीर से परे यह जो आत्मा है जो चलता, हिलता, डुलता, बोलता है उसकी उपलब्धि कैसे हो ? यह ऐसे प्रश्न हैं जिन पर विचार करके मनुष्य अपने मन को अंतर्मुखी बना सकता है । वैराग्य का यही स्वरूप भी है कि मनुष्य जितना लौकिक सुख-साधनों का चिंतन करता है उससे अधिक अमरत्व का, शाश्वत सुख और सनातन स्वरूप का भी चिंतन करे ।

आध्यात्मिक चिंतन आत्म-कल्याण के लिए उपयोगी ही नहीं आवश्यक भी है । किन्तु लौकिक वासनाएँ और इच्छाएँ भी तो इतनी जल्दी नहीं मिटतीं । ईश्वर का भजन करने बैठिए, हाथ चलेगा, माला घूमेगी, मंत्र जाप भी होगा किन्तु मन जिसे ईश्वर के प्रकाश की ओर गमन करना चाहिए था वह तो बार-बार अपनी प्रिय वस्तुओं, ऐच्छिक इंद्रियों के विषय-भोगों की ओर लंपटें लेगा । कठोर संयम और तितिक्षाओं से मन को दंडित कर इस तरह भटकने से रोकने का भी विधान है किन्तु जिस प्रकार दंड से जानवर और भी क्रुद्ध और हिंसक बनते हैं, उसी प्रकार मन भी चोट खाकर विद्रोह करता है । मन वस्तुतः हमारा शत्रु नहीं

है उसे यदि पुचकार कर मित्रतापूर्वक सलाह दी जाये अर्थात प्रेमपूर्वक यह बताया जाये कि भाई ! यह ऐन्द्रिक सुख तुम कब तक भोग सकोगे ? कब तक क्रोध, मोह, लोभ, संग्रह, व्यभिचार और अनाचार में पड़े रहकर अपने किए कर्म के दु:ख की फसल बोते रहोगे ? भाई, कुछ ऐसा काम करो जिससे पग-पग पर होने वाली ईर्ष्या, अपमान, शोक, बीमारी, कलह की कुंठाओं से छुटकारा मिले । आखिर यह जीवन भी कितने दिन चलेगा ? यह युवावस्था कब तक रहेगी ? शरीर ढलेगा ही, मृत्यु होगी ही । क्यों न अमरत्व की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करें, क्यों न अपने को परमात्मा की प्राप्ति की दिशा में अग्रसर करें ।

यह विचार मन के समर्थन में न आयें ऐसा संभव नहीं । मन जैसा मित्र नहीं । आखिर वह भोग भी तो आत्मतृप्ति के लिए ही करता है । जितना ज्ञान, विवेक और विचारशक्ति होती है उतने क्षेत्र में वह आत्म-सुख ही तो ढूँढ़ता है । यदि अपना ज्ञान बढ़ाकर उसे बड़े सुख, उच्च आध्यात्मिक लक्ष्य का ज्ञान कराया जा सके तो वह उधर भी हँसी-खुशी से चल देगा । स्वामी विवेकानंद, रामतीर्थ, शंकराचार्य, दयानंद आदि को भी उत्कृष्ट जीवन की ओर प्रेरित करने वाले उनके मन ही थे । मनोबल जगाया जा सके, उसे मित्र बनाया जा सके तो जो काम कठिन तपश्चर्या से संभव नहीं हो पाता वह क्षण भर में मन के सहयोग से सफल हो सकता है ।

अवगुणी मन को सद्गुणी बनाने के लिए विवेकशील होना आवश्यक है । विचार, विवेक और वैराग्य वस्तुत: एक ही क्रम की अनेक शृंखलाएँ हैं । विचार का अर्थ है मन को स्थिर न रहने देना, आलसी न होने देना । जब वह स्थिर होता है तभी भोग की, काम की इच्छा जागती है । इसलिए एक पर एक विचार उठाना चाहिए । यह संभव नहीं कि अधिक अभ्यास से पूर्व ही मन में अच्छे विचार आने

प्रारंभ हो जायें । अब तक जैसा जीवन क्रम रहा है और पूर्वजन्मों में जो प्रवृत्तियाँ रही हैं वह भी दबाए नहीं दबतीं पर उन्हें काटा आसानी से जा सकता है । अच्छे विचारों का ग्रहण और बुरों का त्याग यही विवेक है । मुझे यहाँ से चलकर अमुक स्थान पर अमुक भोग भोगना चाहिए, यह एक विचार हुआ । यदि उसे स्वतंत्र रखा जाता तो वह उसी दिशा में कल्पना करता–"उस स्थान तक इतने समय में पहुँचना है, यह वस्तु वहाँ मिलेगी, यह आवश्यक होगी, तब यह भोग उपलब्ध होगा आदि । पर यदि मूल विचार के साथ ही रुख बदल दिया जाये तो मन का बुराई से बचना संभव हो जाय । वहाँ सोचना चाहिए–"उससे यह बीमारी संभव हो सकती है । स्वास्थ्य गिरेगा, धन व्यय होगा तो दूसरे आवश्यक कार्यों में परेशानी आयेगी, उसकी अपेक्षा यह थोड़ा सा समय है, इसे क्यों न किसी उत्पादक कार्य में लगायें ? घर की सफाई, कपड़ों की सिलाई कर डालें, बागबानी करें, कोई उद्योग करें आदि ।" रचनात्मक दिशा में जब मन काम करने लगता है तो ऐसी अनोखी बातें सूझती हैं कि आश्चर्य होता है । दरअसल लोग मन की ताकत को पहचानते नहीं अन्यथा यदि उसे रचनात्मक दिशा दी जा सके तो अर्थ, उद्योग, शिक्षा, रोजगार अथवा नेतृत्व की दिशा में वह अनोखी सफलतायें और चमत्कारी उपलब्धियाँ प्रस्तुत कर सकता है ।

आपका मन सोया पड़ा है, इसे सावधान कर दें, जगा दें । रचनात्मक विचारों की चिल्लाहट से इसे शांत न होने दें । यह आपके लिए वह भौतिक सफलतायें भी प्रस्तुत करेगा जिनकी आप इस जीवन में कामना करते हैं ।

विचार और विवेक की इसी दिशा में जब आत्मा के रहस्य अनुभव करने की ओर इसे संयोजित कर दिया जाता है तो वैराग्य का अभ्यास होने लगता है । अंतर्जगत में जो प्रतिक्रियाएँ चला करती हैं बाह्य जगत में उन्हीं

को मन क्रियान्वित किया करता है । मनुष्य यदि यह जान ले कि बाह्य जगत के हमारे समस्त प्रयास मनोजगत की प्रेरणा से हमारे अहंकार को सक्रिय करने का ही परिणाम हैं, तो यह एक बहुत बड़ी बात होगी । इतना आभास होते ही मन और अहंकार एक तमाशे जैसे दिखाई देने लगते हैं और एक तीसरी सत्ता की अनुभूति होने लगती है । मन का बिचौलियापन सिद्ध हो जाये तो फिर यह समझते देर न लगे कि हम आत्मा हैं और शरीर धारण का हमारा लक्ष्य भिन्न है । यह भिन्नता का भाव ही महत्व का है ।

वह तत्व हमारे अंदर बैठा है जिसके न रहने पर यही शरीर शव कहलाने लगता है । वह तत्व ही आत्मा है, चाहें तो उसे ही परमात्मा कह सकते हैं । विचार और विवेक द्वारा जब उसकी अनुभूति हो जाय तो सांसारिक तृष्णाओं, इच्छाओं और धारणाओं को हटाकर तत्व चिंतन की दिशा में अग्रसर करने का अभ्यास किया जा सकता है । जितना प्रखर यह अभ्यास होगा वैसा ही वैराग्य, पारलौकिक जीवन के प्रति संवेदना का भाव भी जागृत होने लगेगा । जब यह सिद्ध हो जायेगा, मन यह स्वीकार कर लेगा कि परलोक ही सत्य है, आत्मा ही अमरत्व है तो फिर मन से झंझट करने की आवश्यकता ही न रहेगी, वह आपका मित्र बन जायगा ।

मनःशक्तियों का सदुपयोग

महात्मा गाँधी की याद आते ही सहसा उनके शरीर की तस्वीर आँखों में घूमने लगती है । सहसा आश्चर्य हो आता है 'वह दुबला-पतला शरीर और इतने महान कार्य ।' किन्तु महान कार्यों में उनके शरीर की इतनी प्रधानता नहीं है जितनी उनके मनोबल की । उनका मन स्वस्थ एवं शोधा हुआ था । मन के ठीक-ठीक निर्माण कर लेने पर दुबले-पतले व्यक्ति भी महान कार्य संपन्न करते हैं । इसी तरह यदि हम शरीर से कितने भी हृष्ट-पुष्ट हों परंतु यदि हमने स्वस्थ मन का निर्माण

नहीं किया है तो हम स्वयं अपने लिए एवं समाज के लिए विशेष हितकर नहीं हो सकते । हमारे जीवन का महत्व संसार में कुछ नहीं होगा । मनुष्य के मन का स्वस्थ एवं शोधा हुआ होना परमावश्यक है । साथ-ही-साथ शरीर भी स्वस्थ-सुपुष्ट हो तो यह जीवन में एक वरदान ही है ।

मन का स्वस्थ होना ही ज्यादा महत्वपूर्ण है । क्योंकि यदि मन स्वस्थ होगा तो दुबला-पतला शरीर भी बहुत कुछ कर सकेगा । महात्मा गाँधी में सक्रियता और फुर्तीलापन उनके स्वस्थ मन के कारण ही था । वे जब किसी भी कार्य या संकल्प पूर्ति में जुट जाते तो उन्हें आगे-पीछे की चिंता नहीं होती थी । वर्तमान क्षण और संकल्प या कार्य ही उनके समक्ष होता था । उनकी इस अविचल, शांत, गंभीर मनःस्थिति के कारण ही महान कार्य संपन्न होते रहे ।

मन का ठीक-ठीक निर्माण एवं उसे स्वस्थ बनाने के लिए निम्नलिखित बातों को जीवन में अपनाना चाहिए । इससे हमारा मन स्वस्थ बनेगा और मनः शांति बढ़ेगी ।

जीवन में निरंतर सक्रियता की आवश्यकता है । जो जीवन अकर्मण्य है वह एक अभिशाप ही है । कहावत भी है 'खाली दिमाग शैतान का घर है ।' कार्यशीलता से रहित जीवन भारस्वरूप ही है । अकर्मण्य एवं आलसी व्यक्ति सदैव इस संसार में पिछड़े हैं । ऐसे व्यक्तियों को इस संघर्षमय कर्मक्षेत्र संसार में स्थान नहीं है । जितने भी महापुरुष हुए हैं उन्होंने कोई जादू या छल से महानता प्राप्त नहीं की है । उनकी महानता का एकमात्र कारण उनका निरंतर कर्तव्यपरायण बने रहना एवं निष्ठापूर्ण जीवन बिताना ही था । उनके जीवन में 'आराम हराम' था ।

जीवन की निरंतर सक्रियता में उद्दंडी मन की चंचलता, संकल्प, विकल्प, वासना आदि नष्ट हो जाते हैं । कार्य व्यस्त और परिश्रमी व्यक्ति

धीरे-धीरे इस चंचल मन पर बाजी मार लेते हैं । मन एक अजीब भूत है जो अपनी कल्पना एवं विचारों के सहारे आकाश-पाताल और लोक-लोकांतरों में उड़ा-उड़ा फिरता है । ऐसे मन पर काबू पाना सहज नहीं होता । इस भूत को निरंतर काम में जोते रहना ही इसे बस में करने का एक मंत्र है ।

जीवन में सक्रियता की इसलिए भी आवश्यकता है कि ईश्वर ने हमें क्रिया शक्ति दी है कुछ करते रहने के लिए । अतः यदि हम अकर्मण्य रहे और ईश्वरीय विधान के विपरीत चले तो यह शक्ति हमसे छीन ली जाती है । इंद्रियाँ अपनी क्रिया शक्ति को खो देती हैं । ऐसा व्यक्ति हाथ-पैर होते हुए भी मुर्दा ही है । वह जीवन में पराधीनता के सिवाय और कुछ नहीं देख सकता ।

स्वस्थ मन के निर्माण में दूसरा साधन यह है कि हमारे मन, वचन और कर्म तीनों में एकता स्थापित हो । जो सोचा जाय या जो कल्पना किया जाय वही कहा जाय और जो कहा जाये वही किया जाय । इस तरह का दृढ़ निश्चय स्वस्थ मन के निर्माण में बहुत ही महत्वपूर्ण है । जो मनुष्य केवल कल्पनाओं की उड़ानें लेता हो तथा कहता कुछ और हो और करता कुछ और हो, वह शेखचिल्ली जैसा ही है । उसे जीवन में असफलता, निराशा, परावलंबन आदि के सिवाय और कुछ नहीं मिल सकता ।

मन को सदैव बुद्धि एवं विवेक के नियंत्रण में रखना चाहिए । क्योंकि इसमें अनेक जन्म-जन्मांतरों के संस्कार भरे पड़े हैं । मन को पूर्व संस्कारों से प्रभावित होकर तदनुकूल कार्य करने की आदत होती है । अतः इसे बुद्धि के नियंत्रण में रखकर अनावश्यक तत्वों एवं गलत मार्ग में जाने से बलपूर्वक रोकना चाहिए । इस ओर दी गई तनिक भी ढील बुरे कर्मों की ओर लगने में अधिक प्रोत्साहित करती है । ऐसी ढिलाई एक बड़ी भूल होती है । जो व्यक्ति यह निर्णय कर लेता है कि अभी तो

अमुक कार्य कर लो फिर बाद में इसे नहीं करेंगे । ऐसे व्यक्तियों को मन पछाड़ पछाड़ कर मारता है । मन की आवाज पर अचानक कोई कार्य करने पर उतारू नहीं होना चाहिए । बुद्धि और विवेक से ठीक ठीक निर्णय करके फिर कार्यक्षेत्र में मनोयोग के साथ उतरना चाहिए ।

मन को स्वस्थ बनाने का एक साधन ईश्वर चिंतन भी है । परमात्मा की खोज में इसे लगा देना ही अधिक महत्वपूर्ण है । संसार के सारे धर्म कर्म, योग, साधना, उपासना आदि इसी केन्द्र पर केन्द्रित है ।

शोधी हुई मनःशक्ति स्वयं एक चमत्कार है । स्वस्थ मन वाला व्यक्ति संसार के लिए एक वरदान होता है । वह संसार को कुछ न कुछ देकर ही जाता है, जबकि दूषित मन वाला सृष्टि में विकृति एवं दोष उत्पन्न करके जाता है । अतः प्रत्येक व्यक्ति को अपने स्वस्थ एवं सबल मन के निर्माण पर पूरा ध्यान देना चाहिए ।

मनोबल न गिरायें, साहस प्रदान करें

पौधे को खाद-पानी से सींचा जाता है और व्यक्तित्व को प्रोत्साहन से । आत्म गौरव का अनुभव किया जाना चाहिए और कराया जाना चाहिए । गलतियाँ बताना और सुधारना एक बात है और व्यक्तित्व हेय तथा हीन सिद्ध करना दूसरी । प्रायः लोग एक बड़ी भूल करते हैं कि गलती की भर्त्सना करते हुए, निराकरण की अपेक्षा रखते हुए ऐसे कदम उठाते हैं जिन्हें आक्रमण की संज्ञा दी जा सकती है । बच्चों के साथ बड़े कहे जाने वाले अभिभावक लोग भी प्रायः ऐसी ही भूल जान या अनजान में करते रहते हैं जिससे उनके व्यक्तित्व को भारी आघात पहुँचता है ।

किसी गलती को मूर्खता कहा जा सकता है और उसे सुधारने पर बुद्धिमान कहलाने का रास्ता बनाया जा सकता है । किन्तु किसी को

मूर्ख, मंदबुद्धि, असभ्य, बेशऊर आदि कहते रहने से अनायास ही बड़ों के उस निर्देश अनुदान को अंत:चेतना स्वीकार करती चली जाती है और क्रमशः हीनता के परत इतने मजबूत हो जाते हैं कि बच्चा सचमुच ही मंदबुद्धि, बेशऊर और मूर्ख बन जाता है । व्यक्तित्व की धुरी आत्म मान्यता है । यदि अपने आपको अयोग्य, अभागा, अविकसित और पिछड़ा हुआ मान लिया जाय तो फिर समझना चाहिए कि उस मान्यता के इर्द-गिर्द ही जीवन चक्र घूमता रहेगा । दुर्भाग्यग्रस्तता की स्थिति से मरण पर्यंत पीछा न छूट सकेगा ।

लड़कियों और लड़कों की प्रतिभा में अंतर किसी शारीरिक अथवा मानसिक बनावट के कारण नहीं वरन उनके साथ होने वाले भेदभाव पूर्ण व्यवहार के कारण होता है । बेटे को अधिक लाड़-प्यार और अधिक सुविधा साधन मिलते हैं और बेटी को डाँट-डपट, उपेक्षा, अवज्ञा । फलतः लड़की का अंत:करण यह स्वीकार करता चला जाता है कि वह वस्तुतः हेय और हीन है । इस हेय मान्यता के कारण वह आजीवन डरी, सहमी, सकुची और पिछड़ी स्थिति में रहती है । यह कुसंस्कार बहुत प्रयत्न करने पर भी निकलते नहीं, अधिक प्रयत्न किया जाय तो वे उद्धत प्रदर्शन या उच्छृंखल व्यवहार में फूट पड़ते हैं । महिलाओं का अधिक फैशन बनाना, सजधज दिखाना, उनकी आत्महीनता का उद्धत प्रदर्शन है । कभी-कभी वे अधिक झगड़ालू, बच्चों को पीटने वाली, रूठने वाली, आत्महत्या की धमकी देने वाली देखी जाती हैं । उनके इस चंडीरूप से उनका उच्छृंखल व्यवहार ही फूटता है । वस्तुतः यह आत्महीनता का ही दूसरा रूप है । अत्यधिक, संकोची, बात-बात में रो पड़ने वाली, न हो तो पग-पग पर उफनने वाली सही, दो परस्पर विरोधी दिशाओं में एक ही प्रवाह फूटता है ।

लड़कों के बारे में भी यही बात है । उन्हें अनावश्यक लाड़-प्यार

देकर या तो अहमन्यता ग्रसित बना दिया जाता है या फिर मूर्ख, दुष्ट, अभागा, चोर, आलसी कहकर उसके अंतः में यह विश्वास जमा दिया जाता है कि वह हेय स्तर का है । सामान्य मनुष्य जैसा नहीं वरन् उससे गया-गुजरा है । प्रभावशाली, बड़े कहलाने वाले लोग अपनी छाप छोटों पर छोड़ते ही रहते हैं । बालक अपनी हीनता स्वीकार करता चला जाता है और बड़े होने पर या तो कायर, आलसी, चोर, मंद बुद्धि रह जाता है या फिर दुष्ट-दुर्गुणी बनकर उद्धत पाप करता हुआ दृष्टिगोचर होता है ।

प्रतिभा के विकास में मनुष्य को स्वाभिमानी, आत्मावलंबी तथा आत्मविश्वासी होना चाहिए और किसी के भी द्वारा थोपे गए आत्महीनता के निर्देशों को अस्वीकार कर देना चाहिए । गलती ढूँढ़ने, पूछने और सुधारने का प्रयत्न जारी रहना चाहिए । वस्तुतः अधिक योग्य बनने का रचनात्मक प्रयास और उत्कर्ष का क्रमिक विकास तो महान से महान व्यक्तियों को भी इसी प्रकार अपनाना पड़ा है । प्रगति का अर्थ ही गलती सुधारने में तीव्रता उत्पन्न होना है । यह क्रम पूछने-बताने से और भी अधिक सही होता है । पर वह रचनात्मक होना चाहिए ।

मनुष्य का, मनुष्यता का मूल्य समझने वाले प्रत्येक विवेकवान व्यक्ति का दृष्टिकोण यह होना चाहिए कि किसी के व्यक्तित्व पर आक्रमण न करे । बड़ा सांड़ छोटे बछड़े के पेट में सींग घुसेड़ सकता है, बड़ा कुत्ता छोटे कुत्ते की गर्दन दांतों से फफेड़ सकता है, पर ऐसा व्यवहार मनुष्य को मनुष्य के साथ तो नहीं ही करना चाहिए ।

व्यक्तित्व को छोटा, घटिया, गया-बीता बताना, उसके भविष्य को अंधकारमय बताना उतना ही बुरा है जितना उसके साथ किए गए किसी भी दुर्व्यवहार को माना जा सकता है । बलवान दुर्बल को पछाड़ कर उसका कचूमर निकाल सकते हैं, इसी प्रकार प्रभावशाली, शक्ति संपन्न व्यक्ति छोटे लोगों को हेय, हीन ठहरा कर उसके मनोबल को तोड़

सकते हैं । यह बुद्धि एवं प्रतिभा का आक्रमणात्मक दुरुपयोग है ।

हमें रचनात्मक सुझाव देने चाहिए । यह काम बुरा हुआ इसकी उतनी अधिक व्याख्या करने की जरूरत नहीं है जितनी कि सुधार के लिए जो किया जा सकताहै उसका सुझाव देने की । सुझाव रचनात्मक होते हैं । उनसे दिशा मिलती है और लाभ होता है, किन्तु भर्त्सना से मन छोटा होता है । तिरस्कार के फलस्वरूप द्वेष-दुर्भाव की खाईं चौड़ी होने के अतिरिक्त और कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता । गलती से होने वाली हानि और सुधार का तरीका अपनाने का लाभ तुलनात्मक रीति से समझाया जा सकता है ।

दूसरे के दबाव से, परिस्थितियों से, अपनी आत्म अवज्ञा से आत्महीनता की मनोवैज्ञानिक ग्रंथि बनती है और उसके कारण व्यक्तित्व बहुत ही दीन और दुर्बल बन जाता है । ऐसे व्यक्ति दब्बू, संकोची, चापलूस, हाँ में हाँ मिलाने वाले, असहमति को प्रकट न कर सकने वाले, भीतर ही भीतर खीझे-रूठे रहने वाले होते हैं । उनसे कोई बेगार ले सकता है, ठग सकता है, साहस के अभाव में वे यह तक प्रकट नहीं कर सकते कि उनसे जो कुछ कराया जा रहा है, जो वे कर रहे हैं उसमें उनकी स्वेच्छा नहीं है ।

मनोविज्ञानी जे० सी० राबर्टस ने अपनी 'दैनिक जीवन में मनोविज्ञान' विषय की पुस्तक में इस बात पर बहुत जोर दिया है कि हर मनुष्य को अपने भीतर से साहस का उदय करना चाहिए । अपने आपको सबसे बड़ा न सही कम से कम सबसे अयोग्य मानना तो बंद कर ही देना चाहिए । परमात्मा ने प्रत्येक व्यक्ति को लगभग समान स्तर की क्षमता प्रदान की हैं । सबके भीतर प्रगति के बीज छिपे पड़े हैं, और हर कोई अपनी सामर्थ्य को विकसित करने में समर्थ है । अंतर इतना ही रहता है कि साहसी लोग अपने को पहचानते हैं, अपने ऊपर भरोसा

करते हैं और अपनी श्रेष्ठता से साथियों को प्रभावित करके अपना सम्मान, सद्भाव एवं सहयोग संपादित करते हैं । इसके विपरीत दब्बू लोग यह छाप छोड़ते हैं कि इनसे किसी को कुछ मिलता तो है नही, उल्टे सदा भार और सिरदर्द सिद्ध होते रहेंगे । इसलिए इनसे तो बचना ही ठीक है । हर व्यक्ति एक दूसरे से कुछ चाहता है और इस आशा से मैत्री करता है कि उनके संपर्क में प्रसन्नता और प्रगति की संभावना बढ़ेगी । जो इस कसौटी पर खरे उतरते हैं उनके स्नेही, समर्थक और सहयोगी सहज में ही बढ़ते जाते हैं । इसी संचय से मनुष्य उन साधनों से संपन्न बनता है जो अंतरंग–बहिरंग प्रगति का पथ प्रशस्त करते हैं ।

आत्महीनता से ग्रसित व्यक्ति का मित्र वह है जो सदा उसके गुणों की चर्चा करे, प्रतिभा को निखारे, प्रशंसा करे और प्रोत्साहन प्रदान करे । साहस की अभिवृद्धि धन संपत्ति, विद्या, रूप–सौंदर्य आदि सभी विभूतियों से बढ़ी–चढ़ी उपलब्धि है । साहस जीतता है, आत्मबल सबसे बड़ा बल है । आत्मविश्वास और हिम्मत के साथ जिस दिशा में भी बढ़ा जायगा, उसी में सफलता मिलती चली जायगी, यदि यह तथ्य समझ लिया जाय तो आत्महीनता की निकृष्ट दरिद्रता से पीछा छुड़ाना हर किसी का प्रथम कर्तव्य प्रतीत होगा ।

मनोयस्य वशे तस्य भवेत्सर्वं जगद्वशे

बिखराव के कारण सौर ऊर्जा का अधिकांश भाग यों ही बेकार चला जाता है । उसकी थोड़ी मात्रा ही प्राणधारी तथा वृक्ष वनस्पति अपनी आवश्यकता के अनुसार ग्रहण कर पाते हैं । एक बिंदु पर सूर्य की कुछ किरणों को केन्द्रित किया जा सके तो उससे दावानल जैसी स्थिति उत्पन्न हो सकती है । वैज्ञानिकों का ऐसा मत है कि बिखराव को समेटा और सूर्य की प्रचंड ऊर्जा को कैद किया जा सके तो मात्र उसकी

एक दिन की शक्ति से संपूर्ण विश्व की वर्षों की ऊर्जा आवश्यकता की आपूर्ति होती रह सकती है ।

शरीर की स्थूल इंद्रियों की तुलना में मन की सामर्थ्य कई गुनी अधिक है । मन:शक्ति की तुलना सौर ऊर्जा से की जा सकती है । जिस प्रकार फैले होने व सतत् नष्ट होते रहने के कारण सूर्य शक्ति से विशेष लाभ उठाते नहीं बनता । गर्मी, ताप जैसे सामान्य प्रयोजन ही पूरे हो पाते हैं । उसी तरह मन से निस्सृत होने वाली इच्छाएँ, आकांक्षाएँ दैनिक जीवन की सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति मात्र कर पाती हैं । मन की चंचलता के कारण से मन:शक्तियाँ कोई विशेष प्रभाव नहीं दिखा पातीं । अन्यथा उनमें वह सामर्थ्य है कि एक दिशा, लक्ष्य विशेष पर उनके बिखराव को रोककर केन्द्रित किया जा सके तो चमत्कारी परिणाम प्रस्तुत हो सकते हैं । मनोबल, संकल्प बल की चर्चा की जाती है । यह और कुछ नहीं निग्रहीत मन की ही शक्ति है जो सामान्य से लेकर असामान्य प्रयोजन संपन्न कर सकने में सक्षम है । संकल्प बल द्वारा जड़ एवं चेतन को न केवल प्रभावित किया जा सकता है वरन् उनमें आवश्यक हेर-फेर भी किया जा सकता है ।

हारे-थके, टूटे, निराश मन:स्थिति वाले अधिकांश व्यक्ति मनोबल, संकल्पबल की दृष्टि से कमजोर होते हैं । शारीरिक एवं मानसिक आधि-व्याधियों से भी ऐसे ही व्यक्ति अधिकतर घिरे रहते हैं । छोटी-मोटी बीमारियों में भी वे अधिक पीड़ा-कष्ट की अनुभूति करते हैं जबकि इच्छा शक्ति के धनी कठिन और असाध्य रोगों में भी हँसते-मुस्कराते रहते हैं और दृढ़ मनोबल के सहारे शीघ्र ही अच्छे होते देखे जाते हैं । इच्छा शक्ति दृढ़ हो तो दीर्घ, स्वस्थ जीवन ही नहीं, चिर यौवन का लाभ भी प्राप्त किया जा सकता है तथा कुछ समय के लिए तो अधिक आयु के साथ प्रकट होने वाले प्रौढ़ता के चिह्नों को भी एक किनारे छोड़ा जा

सकता है । प्रस्तुत है ये घटनाएँ जो यह बताती हैं कि संकल्प बल के सहारे रोग निवारण ही नहीं आयु को भी आगे धकेलना संभव है ।

डॉ॰ वैनेट द्वारा लिखित 'ओल्ड एज, इट्स काज एण्ड प्रीवेन्शन' में एक घटना का उल्लेख इस प्रकार है । १९ वर्षीया एक फ्रांसीसी युवती का एक अमेरिकन युवक से विवाह होना निश्चित हुआ । युवक निर्धन था । इसलिए उसने यह तय किया कि पहले अमेरिका जाकर धनोपार्जन करेगा और फिर लौटकर शादी करेगा । तीन वर्ष तक वह परिश्रम करता रहा, पर दुर्भाग्यवश एक मुकदमे में उसे पंद्रह वर्ष की सजा हो गई । पंद्रह वर्ष बाद वह फ्रांस वापस लौटा तो यह देखकर आश्चर्यचकित रह गया कि उसकी मंगेतर का स्वास्थ्य और सौंदर्य पूर्ववत् था । ३४ वर्ष की आयु में भी वह १९ वर्ष की युवती लगती थी । विवाहोपरांत उसने एक दिन पत्नी से उसके सौंदर्य का राज पूछा । युवती ने बताया कि वह नित्य प्रात: एक बड़े शीशे के सामने खड़ी होकर अपने चेहरे को देखकर मन ही मन यह अनुभव करती थी कि आज बिल्कुल वैसी ही हूँ जैसी कि कल थी । प्रचंड इच्छा शक्ति के कारण ही वह अपने यौवन को ३४ वर्ष की आयु में भी अक्षुण्ण बनाए रखने में सक्षम हुई ।

फिनलैंड की एक युवती के गर्भाशय में कैंसर हो गया । डॉक्टरों ने रोग को असाध्य घोषित करते हुए उसे कुछ दिनों का मेहमान बताया । इस युवती से पड़ोसी युवक गौनर मेंटन को गहरी सहानुभूति थी । उसने युवती के समक्ष विवाह का प्रस्ताव रखा । निराशा के घोर अंधकार में भटकती युवती को जैसे जीने के लिए प्रकाश रूपी संबल मिल गया । विवाह संपन्न हुआ । अनुकूल सहचर पाकर जैसे वह अपना रोग ही भूल गई । जो सदा बिस्तर पर लेटी रहती थी, अब सदा चलती-फिरती, हँसती-हँसाती नजर आती थी । एक वर्ष बाद उसे एक पुत्र हुआ । डॉक्टरों ने परीक्षा करने पर पाया कि युवती में कैंसर रोग का नामोनिशान

नहीं था । बच्चा भी पूर्ण स्वस्थ और निरोग था । चिकित्सकों ने इस घटना को मनोबल का चमत्कार माना ।

मन:शक्ति का एक पक्ष एकाग्रता का है । इसका अभ्यास बन जाने पर असंभव समझे जाने वाले काम भी संभव हो सकते हैं । थोड़ी देर के लिए किसी विषय विशेष पर ध्यान को केन्द्रित कर अपने शारीरिक कष्टों को भी भुलाया जा सकता है । लोकमान्य तिलक के जीवन की एक बहुचर्चित घटना इसी तथ्य का बोध कराती है । मवाद भर जाने के कारण लोकमान्य तिलक के अंगूठे का आपरेशन होना था । डाक्टर क्लोरोफार्म लेकर पहुँचे ताकि उसे सुंघाकर आपरेशन किया जा सके । तिलक ने कहा–"बेहोश करने की आवश्यकता नहीं है । मुझे एक प्रति 'गीता' की लाकर दे दो ।" जितनी देर आपरेशन चलता रहा तिलक गीता पढ़ने में तल्लीन रहे । उन्हें कष्ट की थोड़ी भी अनुभूति नहीं हुई । इसका कारण स्पष्ट करते हुए उन्होंने चिकित्सकों को बताया कि कष्टों की अनुभूति शरीर को नहीं मन को होती है । मन यदि किसी अन्य विषय पर केन्द्रित हो तो शरीर के कष्टों को पूर्णतया भुलाया जा सकता है ।

मन की सामर्थ्य का असामान्य पक्ष वह है जिसके द्वारा वस्तुओं एवं व्यक्तियों को प्रभावित किया जाता है । निग्रहीत मन की शक्ति ही प्रचंड संकल्प बल के रूप में प्रकट होती है, जिसके द्वारा एक स्थान पर बैठकर दूरवर्ती व्यक्तियों को प्रभावित करना संभव है । ऐसी सामर्थ्य से संपन्न कितने ही व्यक्तियों के समाचार समय-समय पर प्रकाशित होते हैं ।

रूसी महिला 'रोजा मिखाइलोवा' अपनी इच्छा शक्ति से जड़ वस्तुओं में हलचल पैदा करने के कितने ही प्रदर्शन कर चुकी हैं । पत्रकारों के समक्ष एक बार उन्होंने दूर मेज पर रखी डबल रोटी को निर्निमेष दृष्टि से देखा और जैसे ही मुख खोला डबलरोटी अपने आप

मेज पर से उठी और मिखाइलोवा के मुँह में जा पहुँची । इस तरह के अनेक प्रदर्शनों द्वारा वे लोगों को आश्चर्यचकित करती रही हैं ।

'बिटवीन टू वर्ल्डस्' पुस्तक में डॉ० नैन्डोर ने ऐसे शक्ति संपन्न कितने ही व्यक्तियों का उल्लेख किया है । डॉ० बैन्जनोई भी उन्हीं में से एक हैं । बिना स्पर्श किए वे वस्तुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान पर खिसका देते हैं । उनकी इस विलक्षण सामर्थ्य की परीक्षा वैज्ञानिकों एवं पत्रकारों द्वारा ली जा चुकी है । डॉ० फोडोर ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि एक बार प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक जुंग अपने मित्र मनोविज्ञानी डॉ० फ्रायड से मिलने गए । चर्चा संकल्प बल पर चल पड़ी । फ्रायड ने जुंग की इस बात को मानने से इन्कार कर दिया कि इच्छा शक्ति द्वारा जड़ वस्तुओं को भी प्रभावित किया जा सकता है । जुंग एक स्थान पर बैठ गए तथा उन्होंने अपनी प्रचंड संकल्प शक्ति का प्रयोग किया । ऐसा लगा कि कमरे की सभी वस्तुएँ काँपने लगी हों, मेज पर रखी पुस्तकें कमरे की छत पर उछल कर जा चिपकीं । फ्रायड को अपना मत बदलना पड़ा । इसे उन्होंने न केवल स्वीकार किया वरन् इसका अपने ग्रंथों में उल्लेख भी किया ।

अमेरिका का यूरी गैलर नामक व्यक्ति अपनी विलक्षण शक्ति के लिए काफी दिनों तक चर्चा का विषय बना रहा । इच्छा शक्ति द्वारा वह दूर पर रखे चम्मच, लोहे की छड़ों को तोड़-मरोड़ देने का प्रदर्शन विशाल जन समूह के समक्ष अनेक बार कर चुका है ।

ब्रिटिश काल में सर जॉन बुडरफ कलकत्ता हाइकोर्ट के चीफ मजिस्ट्रेट थे । एक संस्मरण में उन्होंने लिखा है कि एक बार वे ताजमहल के संगमरमर के फर्श पर बैठे थे । साथ में उनके एक भारतीय मित्र भी थे । बातचीत के प्रसंग में संकल्प शक्ति की चर्चा चल पड़ी । बुडरफ को इस पर विश्वास न था, मित्र से उन्होंने संकल्प शक्ति का

प्रमाण देने को कहा । उनके भारतीय मित्र ने कहा कि एक छोटा प्रमाण तो मैं भी दे सकता हूँ । सामने जो लोग बैठे हैं उनमें से आप जिसे कहें, उसे उठा दूँ और वापस जहाँ कहें वहाँ बिठा दूँ । बुडरफ ने उन व्यक्तियों में से एक को चुना और यह भी बता दिया कि उसे किस स्थान पर बैठाना है । मित्र ने अपनी शक्ति का प्रयोग किया । फलस्वरूप वह व्यक्ति अकारण उठा और बुडरफ द्वारा बताए गए स्थान पर जा बैठा । इस घटना का उल्लेख बुडरफ ने अपनी एक पुस्तक में विस्तृत रूप से किया है ।

भारतीय योग विद्या में रुचि रखने वाले फ्रांस के प्रसिद्ध विद्वान 'लुई जकालियट' ने अपनी पुस्तक में गोविंद स्वामी नामक एक भारतीय योगी का उल्लेख किया है जो अपनी इच्छा शक्ति से जल से भरे घड़े को हवा में ऊपर उठा देता था । मिनटों तक घड़ा अधर में लटका रहता था ।

निग्रहीत मन की सामर्थ्य और चमत्कारों की घटनाओं से तो भारतीय धर्मग्रंथों के पुराण एवं इतिहास भरे पड़े हैं । इसे एक सूत्र में इस रूप में योग वाशिष्ट में कहा गया है–

"मनोहि जगतां कर्तृमनोहि पुरुषः स्मृतः ।"

–३/९/१४

अर्थात, 'मन ही जगत का कारण और स्मृतियों में वर्णित पुरुष है ।'

'एलेक्जेंडर राल्फ' ने 'द पावर आफ माइण्ड' नामक पुस्तक में विभिन्न प्रमाण देते हुए लिखा है कि एकाग्रता के अभ्यास द्वारा मानव मन शरीर के बाहर स्थित सजीव एवं निर्जीव पदार्थों पर भी इच्छानुकूल प्रभाव डाल सकता है । उनका कहना है कि यह एक निर्विवाद तथ्य है कि दृढ़ इच्छा शक्ति द्वारा स्थूल जगत पर नियंत्रण संभव है ।

पदार्थ शक्ति कितनी सामर्थ्यवान हो सकती है इसे आइन्स्टीन के

ऊर्जा समीकरण द्वारा समझा जा सकता है । ऊर्जा समीकरण के अनुसार एक ग्राम पदार्थ को यदि पूर्णतया शक्ति में बदला जा सके तो उससे प्रकाश की गति × प्रकाश की गति (अर्थात ३० अरब × ३० अरब) अर्ग ऊर्जा उत्पन्न होगी जो लगभग २१४ खरब ३० अरब कैलोरी उष्मा के समतुल्य होगी । एक कैलोरी उष्मा का तात्पर्य है एक ग्राम पानी का ताप एक डिग्री सेंटीग्रेड बढ़ाने में प्रयुक्त उष्मा की मात्रा । उपर्युक्त उष्मा का अर्थ हुआ कि एक ग्राम के भौतिक द्रव्य में ही इतनी ऊर्जा सन्निहित है कि उससे २ लाख १४ हजार ३ सौ टन शून्य डिग्री सेंटीग्रेड वाले पानी को सौ डिग्री सेंटीग्रेड तक खौलाया जा सकता है । एक पौंड पदार्थ की शक्ति उतनी ही होगी जितनी १४ लाख टन कोयला जलाने से उत्पन्न होगी । अभी तक वैज्ञानिक इस तरह की कोई तकनीक विकसित नहीं कर सके हैं जिससे पदार्थ को पूर्णतः शक्ति में बदला जाय और उस शक्ति का पूरा-पूरा उपयोग किया जा सके । भौतिक विज्ञानियों के अनुसार एक पौंड पदार्थ को पूर्णतया ऊर्जा में बदल कर उपयोग करना संभव हो सके, तो मात्र उतने से पूरे अमेरिका को एक माह तक विद्युत सप्लाई की जा सकती है ।

यह तो पदार्थ की सामर्थ्य हुई । उसका नगण्य घटक परमाणु की शक्ति तो और भी प्रचंड है जिसकी चर्चा इन दिनों सर्वत्र है । जड़ परमाणुओं की तुलना में मन की सामर्थ्य कई गुनी अधिक है । उसके लिए भी यदि परमाणु की शक्ति को उभारने जैसी प्रक्रिया अपनाई जा सके तो वह चमत्कारी परिणाम प्रस्तुत कर सकता है । इसके लिए साधना का अवलंबन लेना पड़ता है । मनोनिग्रह एवं एकाग्रता का दुहरा अभ्यास इच्छा शक्ति, संकल्प शक्ति को दृढ़ बनाने के लिए करना पड़ता है । ध्यान के विभिन्न साधना उपचार इसी प्रयोजन की पूर्ति के लिए किए जाते हैं । अलग-अलग मनःस्थिति के व्यक्तियों के लिए अलग-

अलग ध्यान उपचार बताए जाते हैं । इस प्रक्रिया को अपनाकर कोई भी अपने मन को इतना समर्थ और सशक्त बना सकता है ताकि उससे सामान्य से लेकर असामान्य प्रयोजन पूरा कर सके ।

नियति की चुनौती स्वीकार करें

आगत कठिनाइयों को देखकर निढाल हो बैठना और रोते-कलपते समय गँवाना, विपत्ति को दूना करने के समान है । हमें यह मानकर ही चलना पड़ेगा कि जीवन आरोह-अवरोध के ताने-बाने से बुना गया है । धूप, छाँह की तरह सफलताओं और असफलताओं की उभयपक्षी हलचलें होती ही रहती हैं और होती ही रहेंगी । सर्वथा सुख-सुविधाओं से भरा जीवन क्रम कदाचित् ही कोई जीता है । ज्वार-भाटों की तरह उठाने और गिराने वाली परिस्थितियाँ अपने ढंग से आती और अपनी राह चली जाती हैं । तट पर बैठकर उतार-चढ़ाव का आनंद लेने वाले ही जीवन नाटक के अनुभवी कलाकार कहे जा सकते हैं ।

सदा दिन ही बना रहे रात कभी आये ही नहीं, भला यह कैसे हो सकता है ? जन्मोत्सव ही मनाए जाते रहें, मरण का रुदन सुनने को न मिले यह कैसे संभव है । सुख की घड़ियाँ ही सामने रहें, दुख के दिन कभी न आयें – यह मानकर चलना यथार्थता की ओर से आँखें मूँद लेने के समान है । बुद्धिमान वे हैं जो सुखद परिस्थितियों का समुचित लाभ उठाते हैं और दुख की घड़ी आने पर उसका सामना करने के लिए आवश्यक शौर्य और साधन इकट्ठा करते रहते हैं ।

ऐसे ईर्ष्यालु इस दुनिया में कम नहीं जो किसी का सुख-संतोष फूटी आँखों नहीं देख सकते । जिनके अंधेर-अनाचार में बाधा पड़ती है वे भी शत्रु बन बैठते हैं । अनुचित लाभ उठाने के उत्सुक भी शोषण एवं आक्रमण से बाज कहाँ आते हैं । इन आसुरी तत्वों का अस्तित्व अनादि

काल से रहा है और अनंत काल तक रहेगा । उनसे बच निकलना कठिन है । हाँ, इतना हो सकता है कि अपना शौर्य-साहस इतना विकसित कर लिया जाय कि उन्हें छेड़छाड़ करने का साहस ही न हो । व्यक्तिगत समर्थता के अतिरिक्त अपने साथी-सहकारी बढ़ाकर भी आततायियों की गतिविधियों पर अंकुश लगाया जा सकता है । प्रतिरोध और प्रतिकार की शक्ति बढ़ाकर ही आक्रमणकारियों से अपनी आंशिक सुरक्षा हो सकती है । उनका सामना ही न करना पड़े, कुछ अनुचित-अवांछनीय सामने आये ही नहीं, ऐसा सोचना आकाश कुसुम पाने जैसी बात या कल्पना है । अवरोधों से जूझने और संघर्षों के बीच अपना रास्ता बनाने के अतिरिक्त यहाँ और कोई रास्ता है ही नहीं ।

परिस्थितियों की अनुकूलता और प्रतिकूलताओं से इन्कार नहीं किया जा सकता । शारीरिक संकट उठ खड़ा हो, कोई अप्रत्याशित रोग घेर ले यह असंभव नहीं । परिवार के सरल क्रम में से कोई साथी बिछुड़ जाय और शोक-संताप के आँखू बहाने पड़ें यह भी कोई अनहोनी बात नहीं है । ऐसे दुर्दिन हर परिवार में आते हैं और हर व्यक्ति को कभी न कभी सहन करने पड़ते हैं । मनचाही सफलताएँ किसे मिली हैं । मनोकामनाओं को सदा पूरी करते रहने वाला कल्पवृक्ष किसके आँगन में उगा है ? ऐसे तूफान आते ही रहते हैं जो सँजोई हुई साध के घोंसले उड़ाकर कहीं से कहीं फेंक दें और एक-एक तिनका बीनकर बनाए गए उस घरोंदे का अस्तित्व ही आकाश में छितरा दें, ऐसे अवसर पर दुर्बल मन:स्थिति के लोग टूट जाते हैं ।

नियति क्रम से हर वस्तु का, हर व्यक्ति का अवसान होता है । मनोरथ और प्रयास भी सर्वदा सफल कहाँ होते हैं । यह सब अपने ढंग से चलता रहे पर मनुष्य भीतर से टूटने न पाए इसी में उसका गौरव है । समुद्र तट पर जमी हुई चट्टानें चिर अतीत से अपने स्थान पर जमी-अड़ी

बैठी हैं । हिलोरों ने अपना टकराना बंद नहीं किया सो ठीक है, पर यह भी कहाँ गलत है कि चट्टान ने हार नहीं मानी ।

न हमें टूटना चाहिए और न हार माननी चाहिए । नियति की चुनौती स्वीकार करना और उससे दो-दो हाथ करना ही मानवी गौरव को स्थिर रख सकने वाला आचरण है ।

चेतनशक्ति का भांडागार—मानव मन

सामर्थ्य का असीम भंडार हमारे चारों ओर बिखरा पड़ा है । जड़ परमाणु का लघुतम घटक परमाणु अपने में कितनी प्रचंड ऊर्जा छिपाए हुए है, इसका परिचय उसके विस्फोट का लेखा-जोखा लेने पर किसी महादैत्य जैसा लगता है । परमाणु में छिपे बैठे न्यूट्रान, इलेक्ट्रान, प्रोटान एवं उसमें भी समाए न्यूट्रीनों जैसे सूक्ष्मतम कण कितने सामर्थ्यवान होंगे, इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती । एक इंच की परिधि में ऐसे अरबों-खरबों महादैत्य सटे बैठे होते हैं । समूचे भूमंडल पर वे कितने होंगे और उन सबकी संयुक्त शक्ति कितनी प्रचंड होगी, इसका अनुमान लगाना मानवी मस्तिष्क के लिए संभव नहीं ।

चेतना का संसार और भी अद्‌भुत है । जीवकोष-बीजकोष अपने में एक अनोखा लीला जगत सँजोए बैठे हैं । उनकी सामर्थ्य काया को गतिशील रखने में तनिक-सा सहयोग करने जितनी ही अनुभव में आती है, पर यदि उनकी निजी सत्ता और विस्तार क्षमता का परिचय प्राप्त किया जाय तो प्रतीत होता है कि सुई की नोंक पर सहस्रों की संख्या में बैठ सकने जैसे छोटे आकार के इन चेतना घटकों में से प्रत्येक की दुनियां कितनी अद्‌भुत, रहस्यमय एवं रोमांचकारी है । फिर एक शरीर में कितने बीजकोष व जीवकोष होते हैं, कोटि-कोटि मानवों में वे कितने

होंगे ? सृष्टि में मनुष्यों के अतिरिक्त प्राणियों की जातियों और उनमें से प्रत्येक की संख्या की गणना नहीं हो सकती । अगणित जीवकोषों से भरे इस जीव-जगत की विशेषताओं को देखते हुए उसे देवोपम मानने में कोई अत्युक्ति नहीं । तैंतीस कोटि देवताओं के प्रतिपादन को कभी असंगत माना जाता था, पर अब तथ्यों के प्रकाश में आने पर जब प्रत्येक घटक-जीवकोष मान्यता प्राप्त देवताओं से भी अधिक विभूति संपन्न सिद्ध हो रहा है तो उन्हें असीम, अनंत, अचिंत्य, कल्पनातीत ही कहा जा सकता है ।

जड़-जगत के परमाणुओं को महादैत्य और चेतन जगत के जीवकोषों को महादेव कहा जा सकता है । उनके बीच जो सहयोग चल रहा है उसे समुद्र मंथन की उपमा दी जा सकती है । साथ ही अदृश्य क्षेत्र में उनकी जो विग्रह प्रक्रिया चल रही है उसे अनादि काल से अनंत काल तक चलने वाले देवासुर संग्राम के समतुल्य ठहराया जा सकता है । इस संयोग-वियोग की पेंडुलम क्षमता जितनी प्रकार की, जिस-जिस स्तर की शक्ति-सामर्थ्य उपजाती-बिखेरती है, उसका तनिक-सा आभास मिलने पर हतप्रभ होना पड़ता है और उस 'अणोरणीयान महतो महीयान्' से रोमांचित होकर उसी प्रकार नेत्र बंद करके नमन करना पड़ता है जैसा कि विराट् दर्शन से भयाक्रांत हुए अर्जुन को करना पड़ा था ।

जड़-जगत से चेतन और चेतन से जड़-जगत की शक्ति सत्ता की तुलना नहीं हो सकती । दोनों ही अपने आप में परिपूर्ण एवं महान हैं । इस विश्व-ब्रह्मांड में पराप्रकृति और परब्रह्म की आंख-मिचौनी जितनी सुंदर लगती है उतनी ही हतप्रभ कर देने वाली भी है ।

इसी विभूतियों से भरे-पूरे संसार में हम सब अपने अपने जीवन शकट घसीटते हैं । जीवित तो सभी हैं और इसके लिए जितनी सुविधा-सामग्री चाहिए, उतनी किसी प्रकार जुट भी जाती है । इतने पर

भी मन:स्थिति और परिस्थिति को देखते हुए प्रतीत यही होता है कि इन जीवितों में से कई अभावग्रस्त, दरिद्र, पतित, पीड़ितों, असहाय, असमर्थ जैसी स्थिति में रह रहे हैं । दरिद्रता और आशंका से कईयों को उद्विग्न देखा जा सकता है । उल्लास से छलकता हुआ, हँसता-हँसाता, समर्थ-संपन्न जीवन जीने वाले कठिनाई से ही नहीं, कोई बिरले ही मिलेंगे ।

व्यक्ति के भीतर और बाहर सामर्थ्य का असीम भंडार, सुविधा-साधनों से भरा-पूरा अनंत वैभव जब इस समूचे ब्रह्मांड में संव्याप्त है और उसी के बीचों-बीच मनुष्य निवास-निर्वाह कर रहा है तो फिर यह कैसी विडंबना है कि अप्रसन्नता की मन:स्थिति घिरी रहे और दैन्य-दारिद्र्य से, पतन-पराभव से घिरी परिस्थितियों में गुजारा करना पड़े । ईश्वर के युवराज को अपने पिता के इस नंदन वन जैसे सुरम्य उद्यान में आनंद और उल्लास से भरे-पूरे दिन बिताना चाहिए थे, तब क्यों उसे शोक-संतापों से युक्त जीवन जीना होता है ? विपत्तियों और समस्याओं का पग-पग पर सामना करना पड़ता है ?

गुत्थी का कारण और निवारण ढूँढ़ने पर एक ही निष्कर्ष पर पहुंचना पड़ता है कि मनुष्य है तो चेतन । किन्तु उसे चेतना की सुरक्षा एवं प्रगति की वैसी जानकारी नहीं, जैसी होनी चाहिए । वस्तु उपलब्ध तो हो पर उसका उपयोग विदित न हो तो दुरुपयोग ही बन पड़ेगा । दुरुपयोग का दुष्परिणाम होता ही है । वही हो भी रहा है । साधनों की न पहले कमी थी, न अब है । इतने पर भी सर्वत्र हाहाकार मचा हुआ है । यह स्थिति तब तक बनी रहेगी जब तक कि चेतन शक्ति, जो पिंड व ब्रह्मांड में समाई है, के उत्पादन, वितरण एवं उपयोग की प्रक्रिया को जाना न जायेगा । इस प्रक्रिया को ही 'साधना' कहते हैं जो पदार्थ के सदुपयोग से आरंभ होते हुए, चेतना के परिष्कार एवं व्यष्टि तथा समष्टि चेतन शक्ति में परस्पर आदान-प्रदान के क्रम के बनने तक सतत्

क्रियाशील रहती है । यही है वह मूलभूत तत्वदर्शन जिसकी जानकारी के अभाव में आत्म विस्मृति बनी रहती है एवं सामान्य अथवा निम्न स्तर का जीवन जीते हुए अधिकांश व्यक्तियों द्वारा जैसे-तैसे जीवन यात्रा पूरी कर ली जाती है ।

अपने अंदर क्या छिपा पड़ा है-यह जानने का प्रयास करने पर बहुमूल्य मणि-मुक्तकों से भरा चेतनशक्ति का भांडागार दिखाई देने लगता है । बाहर से सामान्य व एक से ही दृष्टिगोचर होने वाले व्यक्ति कैसे कैसे असंभव कर दिखाते हैं एवं ऋद्धि-सिद्धियों से संपन्न बन जाते हैं-इसका मूल कारण खोजते हैं, तो एक ही तथ्य हाथ लगता है-उन्होंने अपने अंदर छिपे 'महान' तत्व को पहचाना, साधना द्वारा उसे जगाया एवं स्वयं को ऊँचा उठाया । ऋषि, देवदूत, महामानव स्तर तक पहुँचने में उन्हें आत्म-परिष्कार, व्यक्तित्व निर्माण की जीवन सााधना से लेकर अपने परम चेतन को जगाने की साधना करनी पड़ी और उन्होंने वह सब कुछ पा लिया, जिसे मानव के लक्ष्य की चिरंतन प्यास एवं समय की तत्कालीन आवश्यकता कह सकते हैं ।

कैसा है यह विराट्-विलक्षण जो अपने ही भीतर समाया है और हम स्वयं ही उससे अनजान बने हुए हैं । जानकारी होने पर इस भांडागार के सदुपयोग की व्यवस्था बनाई जाने पर पिंड के चेतन पक्ष को ऊँचा उठाया जा सकना एवं ब्राह्मी चेतना के विराट् समुद्र से उसका संबंध जोड़ पाना संभव है ।

योग वाशिष्ठ में उपदेश देते हुए महर्षि वशिष्ठ भगवान राम से कहते हैं –

"रम्येय देह नगरी राम सर्व गुणान्विता ।
अज्ञस्येय मनन्तानां दुःखानां कोशमालिका ।
अस्यत्विय मनन्तानां सुखानां कोशमालिका ॥"

अर्थात, हे राम ! यह देह नगरी बड़ी सुरम्य और गुण संपन्न है । यह ज्ञानियों के लिए सुखद और अज्ञानियों के लिए दुख देने वाली है ।

कुछ वर्षों पूर्व बंबई के एक विद्वान श्री बी०जे० रेले ने एक पुस्तक लिखी थी–'दी वैदिक गॉड्स एज फिगर्स ऑफ बायोलाजी' । इस पुस्तक में उन्होंने सिद्ध किया था कि वेदों में वर्णित आदित्य, वरुण, अग्नि, मरुत, मित्र, अग्नि आदि मस्तिष्क के स्थान विशेष में सन्निहित दिव्य शक्तियाँ हैं, जिन्हें जागृत करके अद्वितीय क्षमता संपन्न एवं विशिष्ट बना जा सकता है । डा० नाडगिर एवं एडगर जे० टामस ने संयुक्त रूप से पुस्तक की भूमिका लिखते हुए कहा है कि वैदिक ऋषियों के इस शरीर शास्त्र संबंधी गहन ज्ञान पर आश्चर्य होता है । उस साधनहीन समय में कैसे उन्होंने इतनी जानकारियाँ प्राप्त की होंगी, यह शोध का विषय है ।

मस्तिष्कीय संरचना पर दृष्टिपात करने से प्रतीत होता है कि यह एक मांस पिंड नहीं है वरन् जीवंत विद्युत भंडार है । उसमें चल रही हलचलें ठीक वैसी ही हैं जैसी किसी शक्तिशाली बिजलीघर की होती हैं । जितने हमारी आकाशगंगा में तारे हैं, करीब उतने ही (एक खरब से अधिक) न्यूरान्स (स्नायुकोष) मस्तिष्क में हैं । इन तंत्रिकाओं को आपस में जोड़ने वाले तंतु और उनके इन्सुलेशन खोपड़ी में खचाखच भरे हैं । एक तंत्रिका कोशिका का व्यास एक सेंटीमीटर के हजारवें भाग से भी कम है और उसका वजन एक औंस के साठ अरबवें भाग से अधिक नहीं है । तंत्रिका तंतुओं से होकर बिजली के जो इम्पल्स दौड़ते हैं वही ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से आवश्यक सूचनाएँ उस केन्द्र तक पहुँचाते हैं । इन्द्रियों द्वारा उपलब्ध सूचनाओं और विचारों की हलचलें हर क्षण सोते–जागते मस्तिष्क को इतना अधिक व्यस्त रखती हैं कि इन्हें इलेक्ट्रो एनसेफेलोग्राम (ई० ए० जी०) द्वारा विद्युतीय तूफान की तरह देखा जा सकता है ।

मानव निर्मित सर्वोत्तम कम्प्यूटर में अधिक से अधिक दस लाख इकाइयाँ होती हैं और प्रत्येक इकाई के पाँच-छः से अधिक संपर्क सूत्र नहीं होते । किन्तु मस्तिष्क की अरबों कोशिकाएँ और उनमें से प्रत्येक के लाखों संपर्क सूत्र और उनके भीतर प्रवाहित न्यूरोट्रांसमीटर्स की भिन्नता वैज्ञानिकों को इसी निष्कर्ष पर पहुँचाती है कि इन अद्‌भुत शक्तियों को समाहित करने वाला कम्प्यूटर को बनाने लायक सामर्थ्य मानव में नहीं है । यदि सैद्धांतिक स्तर पर एक ढाँचा भी ऐसा खड़ा करने का प्रयास किया जाय तो वह इतना बड़ा होगा कि उसके लिए यह पृथ्वी भी छोटी पड़ेगी ।

मस्तिष्क रूपी इस चेतन शक्ति भंडार के न्यूरान समूहों में से यदि एक को भी किसी प्रविधि द्वारा सजग-सचेत किया जा सके तो दस अरब न्यूरान्स, दस अरब डायनोमों का काम कर सकते हैं । उस गर्मी-प्रकाश एवं विद्युत क्षमता का अनुमान भी नहीं लगाया जा सकता । इसी कारण वैज्ञानिक कहते हैं कि अभी वे मस्तिष्क के कुल सत्रह प्रतिशत भाग को जान पाए हैं एवं शेष ८३ प्रतिशत के बारे में उन्हें कुछ जानकारी नहीं है । इस सत्रह प्रतिशत में से भी दैनंदिन जीवन में मात्र सात प्रतिशत विद्युत क्षमता उपयोग में आ पाती है, शेष का या तो प्रयोग ही नहीं हो पाता या प्रयासों के अभाव में वह व्यर्थ ही नष्ट हो जाती है ।

जिस मस्तिष्क रूपी संसार में इस पृथ्वी पर बसे मनुष्यों से भी कई गुनी अधिक स्नायुकोषों की आबादी बसी हुई है, उसकी सामर्थ्य कितनी विलक्षण है, इसका अनुमान इन व्यक्तियों की उपलब्धियों को देखकर लगाया जा सकता है जिन्होंने अपने प्रतिभा के बलबूते वैज्ञानिकों को भी आश्चर्यचकित किया है ।

कैपटाउन में एक इंजीनियर वानवांडे निवास करते हैं । उनके बारे में कहा जाता है कि समय उनकी इच्छा के अनुसार चलता है । उनका दिमाग उन्हीं निर्देशों का पालन करता है जो वे स्वयं को देते हैं । वे सोने जा

रहे हों और आप कहें "महोदय ! अभी आठ बजे हैं, आप ठीक बारह बजकर सात मिनट उनसठ सैकिंड पर उठें ।" एक सैकिंड का भी अंतर किए बिना वे उसी समय जग जाते हैं । इसका रहस्य बताते हुए वे कहते हैं–"मैंने अपने मस्तिष्क को इस प्रकार साधा है कि अचेतन-चेतन दोनों की स्थिति में मैं अपने क्रिया-कलाप नियंत्रित कर सकता हूँ ।"

लार्ड मैकाले ने इंग्लैंड का इतिहास आठ जिल्दों में लिखा । इसके लिए उन्हें किसी संदर्भ पुस्तक की आवश्यकता नहीं पड़ी । लोग उन्हें चलता-फिरता पुस्तकालय कहते थे । उन्हें सैकड़ों घटनाएँ, तिथियाँ, व्यक्तियों के नाम जबानी याद थे । इसी प्रकार ब्रिटिश संग्रहालय के अधीक्षक रिचर्ड गार्नेट अपनी स्मरण शक्ति-सैकड़ों संदर्भों व अनेक भाषाओं को कंठस्थ रखने के कारण विश्वविख्यात हैं । इन्हें अपने पुस्तकालय की सहस्त्रों पुस्तकों के नाम एवं रखने का स्थान तक याद थे । एक बार फ्रांस की अदालत में एक मुकदमा पेश हुआ जिसमें प्रस्तुत साक्षियों व कानूनी तथ्यों के कारण अपराधी के बचने की कोई आशा न थी । एकमात्र आशा की किरण थी राजा से क्षमादान परंतु राजा ५ दिनों के लिए बाहर थे । अपराधी के एटार्नी प्रख्यात विधिवेत्ता लुई बर्नार्ड ने अपराधी के पक्ष में तर्क देना आरंभ किए और जूरी के समक्ष वह १२० घंटे तक अर्थात पाँच दिन पाँच रात तक बराबर बोलता रहा । इस अवधि में उसने कानून शास्त्र के दुनियाँ भर के पन्ने जबानी अदालत के सामने रखकर अपनी आश्चर्यजनक क्षमता का सिक्का जमा दिया । इसी बीच राजा आ गए, अपराधी को राजा के समक्ष प्रस्तुत होने का अवसर मिला और तदुपरांत क्षमादान भी ।

'गणित की जादूगरनी' कही जाने वाली भारतीय महिला शकुंतला देवी अपनी अद्वितीय मानसिक शक्ति के कारण विश्वभर में जानी जाती है । वे जितनी तेजी से गणित की गुत्थियों का हल निकालती हैं, उस

शीघ्रता से कम्प्यूटर भी काम नहीं कर पाता । अपनी मनःशक्ति के बारे में उनकी मान्यता है कि यह केन्द्रित मन की मात्र छोटी सी शक्ति का नमूना भर है । यदि समग्र मनःसामर्थ्य को सुनियोजन किया जा सके तो इससे भी विलक्षण उपलब्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं ।

उपर्युक्त उदाहरण पिंड के एक घटक मस्तिष्क की सामर्थ्य की एक छोटी-सी झाँकी भर देते हैं । चेतन जगत से प्रत्यक्ष जुड़े इस मांस पिंड को भानुमती का पिटारा कहा जाये तो अत्युक्ति न होगी । मस्तिष्क में भरे एक खरब से भी अधिक स्नायुकोषों को अद्‌भुत विशेषताओं से संपन्न महादेव कहा जा सकता है । इनमें संचित स्मृतियाँ माइक्रोफिल्म की भाँति सुरक्षित रहती हैं और उत्तेजित किए जाने पर वे उभर कर आती हैं । डा० पेनफील्ड एवं डा० डेलगार्डों के इस विषय में मनुष्यों व पशुओं पर प्रयोग पहले ही ख्याति प्राप्त कर चुके हैं । उनसे ज्ञात होता है कि मस्तिष्क का टेम्पोरल कार्टेम्स, पेराइटललोब व लिम्बिक सिस्टम इतना रहस्यमय तिलस्मों से भरा हुआ है कि इस विषय में किए गए अनेकानेक प्रयोगों ने वैज्ञानिकों को अपनी अज्ञानता का बोध तो कराया ही है, एक अद्‌भुत रोमांचकारी लीला जगत भी दिखाया है जो इस पिंड में विद्यमान है ।

काया की सूक्ष्म संरचना का वर्णन करते हुए ऋषिगणों ने एक ऐसे विद्युत प्रवाह के मस्तिष्क में अवस्थित होने की कल्पना की है जो मस्तिष्क के अनेकानेक महत्वपूर्ण केन्द्रों, स्नायुकोषों की परतों तथा स्नायु-रसायन संदेश वाहकों के रसस्रावों को उत्तेजित करता है । मस्तिष्क में स्थिति इस फव्वारे को वांछित केन्द्रों तक भेजकर उन्हें उत्तेजित कर प्रसुप्त को जगाया जा सकना संभव है, इसे अब वैज्ञानिक भी मानने लगे हैं । संभवतः इसी तथ्य को उपनिषदकार ने इस तरह अभिव्यक्त किया है -

"तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ।"

—छान्दोग्य:

अर्थात, सहस्रार को प्राप्त कर लेने वाला योगी संपूर्ण भौतिक विज्ञान का अधिष्ठाता बन जाता है, सर्व समर्थ हो जाता है ।

विपुल संपदा से भरे-पूरे इस पिंड में बहुत कुछ भरा पड़ा है । 'साधना से सिद्धि' के समस्त उदाहरण इसी एक तथ्य की साक्षी हैं कि साधकों ने इसी चेतना घटक को सामर्थ्यवान बनाया और बदले में ऋद्धियाँ-सिद्धियाँ पायीं । यह सिद्धांत सदा से ही शाश्वत रहा है और आगे भी जब भी किसी को इस मार्ग पर चलना होगा, इसी को अपना आधार बनाना होगा ।

मनोविकार हमारे सबसे बड़े शत्रु

निराशा, चिंता, असंतोष अथवा उद्वेग किसी अभाव, आपत्ति अथवा विषमताओं के उपचार नहीं हैं । ये विकार स्वयं ही रोग और विपत्ति माने गए हैं । संसार में जो भी व्यक्ति सफल हुए हैं, उन्होंने अपने जीवन में निराशा, चिंता अथवा असंतोष को कभी अवसर नहीं दिया । उन्होंने विकट से विकट परिस्थितियों में अपने को इन विकारों से बचाया है । संसार में जो भी असफल होते हैं, उनकी असफलता का कारण अभाव अथवा प्रतिकूल परिस्थितियाँ नहीं होतीं । उनका एकमात्र कारण निराशा, चिंता अथवा असंतोष ही होता है । असफलता का निवास बाह्य परिस्थितियों की प्रतिकूलता में नहीं मनुष्य की प्रतिगामिनी भावनाओं में होता है ।

निराशा एक मानसिक रोग है । यह मनुष्य की गतिशीलता को अस्वस्थ बना देता है । निराशावादी व्यक्ति प्रगति की भावना और उन्नति

की जिज्ञासा से उदासीन हो जाता है । प्रगति अथवा उन्नति की बात मन में आते ही उसे ऐसा आभास होने लगता है, मानो वह अपने ऊपर कोई विपत्ति लाने की बात सोच रहा है । काम में प्रवृत्ति लाने से पूर्व ही उसे आपत्तियाँ, कठिनाइयाँ और असफलता दिखलाई देने लगती है । उसका साहस मर जाता है, उत्साह ठंडा पड़ जाता है । अपने को जहाँ का तहाँ पड़ा असुरक्षित अनुभव करता है । एक निराशावादी और मृत व्यक्ति में कोई विशेष अंतर नहीं होता । वह एक स्थिर शव की तरह होता है, एक चलती-फिरती लाश की तरह ।

चिंता को चिता तक कहा गया है । किन्तु चिंता रूपी चिता श्मशान की चिता से अधिक भयंकर होती है क्योंकि वह चिता मरे मनुष्य को जलाया करती है और यह जीवित मनुष्य को । चिंताग्रस्त मनुष्य अंदर ही अंदर गीली लकड़ी की तरह सुलगा करता है । इस जलन में सबसे पहले उसकी प्रसन्नता जलती है, फिर जीवन की आशाएँ, अनंतर क्षमताएँ और अंततः शरीर । चिंता की आग इस प्रकार क्रम-क्रम से जलाकर मनुष्य का सारा जीवन खाककर डालती है ।

चिंता की चिता में बैठा मनुष्य अपनी यातनापूर्ण मृत्यु की प्रतीक्षा करने के सिवाय और कुछ नहीं कर सकता । जिस वृक्ष में आग लग गई हो अथवा जिसे दावाग्नि ने झुलस डाला हो उससे हरियाली की आशा करना दुराशा मात्र है । ऐसे दाव-दग्ध वृक्ष में न नए पत्ते उग सकते हैं, न फूल खिल सकते हैं और न फल आ सकते हैं । उसका ठूँठ होकर निरुपयोगी हो जाना निश्चित है ।

प्रगति और उन्नति का उत्साह मन में उत्पन्न होता है । बुद्धि उसकी योजना बनाती है और शरीर उसको कार्यान्वित करता है । जिसका मन और मस्तिष्क चिंता से तप रहा हो, शारीरिक स्वास्थ्य उसकी आग में आहुति बन रहा हो, ऐसे व्यक्ति के हृदय में उत्साह का जन्म होना

असंभव है । बुद्धि का कुंठित तथा कलुषित हो जाना स्वाभाविक है और अस्वस्थ शरीर तो किसी योग्य रह ही नहीं सकता । इस प्रकार जिस मनुष्य की यह तीनों शक्तियाँ बेकार हो जायँ, उसे प्रगति और उन्नति के शब्द अपने शब्दकोष से निकाल ही देने चाहिए ।

असंतोष भी एक प्रकार की मानसिक व्याधि ही होती है । यह मनुष्य की सुख-शांति को हरण कर लेता है । 'संतोषी सदा सुखी' की तरह कहना होगा-'असंतोषी सदा दुःखी' । यह गलत भी नहीं है । असंतोष का जन्म अभाव से बतलाया गया है । जिसके पास काम न हो, भोजन-वस्त्र का अभाव हो, जीवनयापन के सामान्य साधनों की कमी हो, उसे असंतोष होना स्वाभाविक है । किन्तु यह असंतोष वह असंतोष नहीं होता, जिसकी मानसिक व्याधि कहकर निंदा की जाती है । इस प्रकार का अभावजन्य असंतोष वास्तव में असंतोष न होकर आवश्यकता का दबाव होता है । यह बुरा नहीं । यदि आवश्यकताओं का दबाव अकारण सह लेने का अभ्यास बना लिया जाये तो मनुष्य सामान्य स्थिति से भी नीचे गिरकर दीन और दरिद्री ही बन जाए । कहीं से कुछ मिल गया खा लिया, नहीं तो भूखे पड़े तरस रहे हैं । कपड़ों के स्थान पर चीथड़ों को ही लपेटे हैं । इस प्रकार का विवशतापूर्ण जीवन मनुष्य के योग्य नहीं । वह तो बुद्धि एवं पुरुषार्थ से वंचित पशुओं का जीवन है । आवश्यकताएँ मनुष्य को पुरुषार्थ एवं परिश्रम की प्रेरणा देती हैं । उनकी माँग का उचित उत्तर दिया ही जाना चाहिए ।

मानसिक व्याधि वाला असंतोष दूसरी चीज है । उसका जन्म अभाव अथवा आवश्यकता से नहीं, बल्कि लोभ और तृष्णा से होता है । यह एक असात्विक स्वभाव और आसुरी वृत्ति होती है जो अकारण ही यातना दिया करती है । इस वृत्ति का व्यक्ति सब कुछ होने पर भी उसके सुख से वंचित ही रहता है । असंतोष की पीड़ा उसे घेरे ही रहती

है । लोभ के कारण असंतोषी व्यक्ति संपत्ति एवं संपन्नता की दशा में भी अपने को अभावग्रस्त अनुभव किया करता है । लक्ष्मी का भंडार, पृथ्वी की वसुधा और कुबेर का कोष क्यों न दे दिया जाए किन्तु असंतोष का रोगी तब भी संतुष्ट न होगा । तब भी उसे अभाव और आवश्यकता अनुभव होती रहेगी । ऐसा वितृष्ण व्यक्ति संपन्नता में भी विपन्नता का दुख भोगने पर मजबूर रहता है ।

उद्वेग एक तरह का पागलपन होता है । उत्तेजना, आवेग और आवेश आदि के सारे उन्माद इसी के अंतर्गत आते हैं । उद्वेग दूषित व्यक्ति अकारण ही अपने भीतर तना-तना-सा रहता है । वह किसी बात अथवा काम के विषय में पहले तो मौन रहता है, किन्तु जब खुलता है तो विस्फोट की तरह । इससे उसकी बात अथवा काम बिगड़ जाता है । उद्वेग मानसिक न्यूनता का लक्षण है । जो अंदर से गंभीर और संपन्न होते हैं, वे सब कुछ शांतिपूर्वक सोचते और सरलतापूर्वक करते हैं । इसलिए उनके सारे काम बनते चले जाते हैं, किसी अभाव अथवा आवश्यकता से दुखी होकर उद्वेगी व्यक्ति या तो अपने आप पर खीझते रहते हैं अथवा दूसरों से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में लड़ते-झगड़ते रहते हैं । जिस काम में हाथ डालते हैं, उसको सुचारू रूप से करने के बजाय उससे झगड़ते से रहते हैं । जो काम करेंगे बेगार की तरह । उनका चंचल तथा क्षुब्ध मन काम में तन्मयता आने ही नहीं देता । किन्हीं अभावों अथवा कमियों को दूर करने की उत्सुकता में उद्वेग का प्रयोग करने से अपकृत्यता के सिवाय कृतकृत्यता प्राप्त नहीं होती ।

जीवन की पूर्णता और सफलता के लिए मनुष्य को सबसे पहले निराशा, असंतोष, चिंता अथवा उद्वेग आदि के दोषों का परिमार्जन करके उनके स्थान पर आशा, निश्चिंतता, संतोष तथा गंभीरता के गुण विकसित करने होंगे । यह गुण सृजनात्मक प्रकृति के होते हैं । इनके द्वारा मनुष्य

की शक्तियों का क्षय नहीं अभिवर्द्धन होता है । उनकी कार्य क्षमता बढ़ती है, दक्षता तथा उत्साह की प्राप्ति होती है ।

आशा का विकास सद्‌विचारों द्वारा आसानी से किया जा सकता है । मनुष्य को सोचना चाहिए कि उसको जीवन इसलिए नहीं मिला कि उसे निराशा के अंधकार में इस प्रकार बिता दिए जाये । वह संसार में आनंद खोजने और पाने के लिए भेजा गया है । उसका लक्ष्य प्रकाश है अंधकार नहीं । वह एक आत्मावान् प्राणी है । उसे संसार की जरा-जरा-सी प्रतिकूलताओं से निराश होकर इस प्रकार बैठे न रहना चाहिए । उसे जीवन की सफलता और प्रगति के उद्देश्य से, परिस्थितियों से संघर्ष करना चाहिए, लोहा लेना चाहिए । निराश हो जाने का अर्थ है-जीवन-समर में हथियार डाल देना, हार मानकर पीछे हट जाना ।

इस प्रकार हथियार डालकर पीछे हट जाने से भी प्रयोजन पूरा नहीं होता । निराश होने से आज तक किसी का दुख दूर नहीं हुआ है । दुख-कष्टों से उन्हीं को छुटकारा मिलता है, जो वीर पुरुष की तरह हजार बार हारने पर भी साहस नहीं हारते । हर बार एक नई तैयारी के साथ खड़े होकर अपने कर्तव्य में लग जाते हैं और अंततः परिस्थितियों, प्रतिकूलताओं तथा विषमताओं पर विजय प्राप्त कर ही लेते हैं । असफलताओं से निराश होकर बैठे रहने के बजाय आँख खोलकर संसार में देखना चाहिए । देखने में आएगा कि अपने जैसे न जाने कितने मनुष्य नित्य ही असफलताओं और विषमताओं में फँसते रहते हैं किन्तु वे हार मानकर बैठे नहीं रहते और न निराश होकर संघर्ष से मुँह मोड़ लेते हैं । वे नए उत्साह, नए साहस और नए उपाय के साथ फिर मैदान में जाते हैं और अंत में विजय प्राप्त ही कर लेते हैं । संसार में सफलताओं के जो भी उन्नत स्तंभ खड़े दीखते हैं, वे सब यों ही एक साथ उठते नहीं चले गए हैं । पूरा होने तक उन पर हजारों वार पड़े हैं, अनेक बार गिरे

हैं, टूटे और मिटे हैं, किन्तु उनको उठाने वाले इन सब विपरीतताओं से निराश अथवा हतोत्साह नहीं हुए । वे सारे आघात सहते हुए अपने निर्माण कार्य में लगे रहे और अंत में इन उन्नत स्तंभों को स्थित करने में सफल हो ही गए । संसार में ऐसे उदाहरण होते हुए आपको निराश हो जाने का कोई कारण नहीं दीखता । उन्हीं की तरह आप में भी शक्ति तथा क्षमता है । निराशा छोड़िये और आशावाद के साथ पुनः मैदान में आइए, आपके सारे दुख दूर होंगे, आप एक सफल व्यक्ति बन जाएँगे ।

यह सुरदुर्लभ मानव-जीवन बहुत मूल्यवान् उपलब्धि है । यह कल्पवृक्ष और कामधेनु की तरह फलदायी है । आप इससे जो चाहें प्राप्त कर सकते हैं । किन्तु यह फलदायक तभी होता है, जब इसे हरा-भरा और प्रसन्न रक्खा जाए । यदि आप इसको चिंता की चिता में जलाते रहेंगे, तब तो यह सूख जाएगा । इसके सारे गुण, सारी विशेषताएँ और सारे अनुग्रह नष्ट हो जाएँगे । चिंता छोड़िए, यह मनुष्य को जीवित अवस्था में ही मृत बना देती है । चिंता में जल-जलकर मर जाने से कहीं अच्छा है कि आप पुरुषार्थ के मैदान में ही इसका बलिदान दे दें । इस निरर्थक मृत्यु से तो वह सार्थक अंत कहीं अच्छा है । उसमें एक आदर्श और एक ऊँचाई तो है । चिंता छोड़कर प्रसन्न होइए । पुरुषार्थ करिए, आप अवश्य सफल होंगे ।

आप अभावग्रस्त हैं । जरूरतों से पीड़ित हैं तो इसमें क्षुब्ध अथवा असंतुष्ट रहने का क्या काम ? असंतोष आपकी इन पीड़ाओं का उपचार नहीं है । इनका उपचार है, अधिकाधिक परिश्रम एवं पुरुषार्थ । यह बेपैसे का उपचार करने में आपका क्या जाता है ? पौरुष तथा श्रमशीलता की शक्ति आपको ईश्वर की ओर से मिली ही है । उसका उपयोग करिए तथा अपनी पीड़ाओं से मुक्त हो जाइए और यदि संपन्नता की स्थिति में भी आप असंतुष्ट रहते हैं तो समझ लीजिए कि आप लोभ तथा तृष्णा के

पिशाच से ग्रस्त हैं । इसका उपचार संतोष तथा उदारता ही है । अपनी वृत्ति पर विचार कीजिए, उसे बुरा समझकर त्याग दीजिए । लोभ तथा तृष्णा का उपचार उसका तिरस्कार तथा संसार की नश्वरता में विश्वास करना है । इन्हीं उपायों का अवलंब लीजिए, आप असंतोष के पिशाच से छूट कर सुखी हो जाइये ।

कोई भी विपत्ति अथवा आपदा क्यों न आ जाए, भूल कर भी उद्वेग में मत बह जाइए । ईश्वर की कृपा में अखंड विश्वास रखिए । अपनी आत्मा तथा बुद्धि-विवेक का सहारा लीजिए । शांत एवं गंभीर बने रहिए । सारी आपदाएँ आप पर से ऐसे गुजर जाएँगी, जैसे किसी सुदृढ़ वृक्ष पर से तूफान निकल जाता है । उद्वेग एक मानसिक त्रुटि है । इसे नहीं रहने देना चाहिए । इसके प्रवाह से प्रेरित होकर किए गए काम बनने के बजाय बिगड़ जाते हैं । यह एक उन्माद तथा पागलपन होता है, जो विवेकशील मनुष्य के लिए अशोभनीय है । आप ईश्वर के अंश हैं । उसी की तरह स्थिर, गंभीर तथा अडिग रहकर अपना सृजन करते जाइए । आप सफलता के साथ आनंद के अधिकारी बनेंगे ।

निराशा, चिंता, असंतोष अथवा उद्वेग किन्हीं समस्याओं का हल नहीं है । यह मानव जीवन की प्रकृति के दोष हैं, जो काम बनाने के बजाय बिगाड़ देते हैं । इनको त्याग कर मनुष्य को सृजनात्मक गुणों का ही अवलंब लेकर चलना चाहिए । तभी वह सफल होगा और तभी सुखी तथा संतुष्ट ।

मन को दुर्बल न बनने दें

सिद्धि का आधार शक्ति माना गया है । संसार का कोई भी उद्योग, कोई भी पुरुषार्थ और कोई भी कार्य शक्ति के बिना नहीं किया जा सकता । कोई बड़ा ही नहीं, एक साधारण और सामान्य कार्य में भी

शक्ति की आवश्यकता पड़ती है । निःशक्त मनुष्य संसार में कुछ भी नहीं कर सकता ।

संसार में प्रधानतः दो शक्तियाँ काम करती हैं । एक शारीरिक बल, दूसरा मानसिक बल । आगे की अन्य शक्तियाँ जैसे बौद्धिक बल, आध्यात्मिक अथवा आत्मिक बल भी पूर्वोक्त दो बलों के आधार पर ही पाए और विकसित किए जाते हैं ।

शारीरिक बल और मानसिक बल में भी मानसिक बल की प्रधानता है । शारीरिक बल का अपने आपमें कोई अधिक महत्व नहीं है । मनोबल का सहयोग पाए बिना शारीरिक बल निकम्मा बना रहता है । बहुत बार देखा जा सकता है कि शारीरिक बल कम होने पर भी लोग मनोबल के आधार पर बहुत से काम कर जाते हैं । शरीर बल प्रधान सैनिक जिनका मानसिक बल निर्बल होता है, मनोबल प्रधान और न्यून शारीरिक बल वाले सैनिकों से परास्त हो जाते हैं । जंगल में शेर की तुलना में हाथी, गैंडे, सूअर आदि बहुत से जानवर शरीर बल में बहुत अधिक होते हैं, किन्तु मनोबल की कमी के कारण शेर से डरते और उसका आतंक मानते रहते हैं । वास्तविक बल मनोबल ही होता है, शारीरिक बल तो मात्र यांत्रिक बल ही होता है ।

शरीर में क्षमता होते हुए भी जब मनुष्य का मन असहयोगी हो जाता है तो वह जरा देर भी काम नहीं कर सकता । मन में उत्साह और सहयोग होने पर यदि एक बार शरीर थका भी हो तो भी मनुष्य बहुत देर तक काम करता रहता है । शरीर की सारी क्रियाएँ मन की सहायता से ही संपादित होती हैं ।

बौद्धिक बल उत्पन्न करने के लिए भी मानसिक अभ्यास की आवश्यकता होती है । मनुष्य की बुद्धि का विकास अध्ययन, अनुभव और विषय में गहरे पैठने से होता है । जिसका मन निर्बल है, असहयोगी

या उत्साहहीन है, वह न तो अध्ययन का परिश्रम कर सकता है, न सजग रहकर अनुभव संचय कर सकता है और न उत्साहपूर्वक किसी विषय में गहरे पैठ सकता है । यदि वह यह सब करता है तो भी मानसिक सहयोग के अभाव में कुछ लाभ नहीं उठा सकता ।

न जाने कितने उत्साह अथवा अभिरुचि से रहित मन वाले लोग वर्षों पढ़ते रहते हैं, नौकरी और व्यापार करते हैं, किन्तु प्रगति के नाम पर एक कदम भी आगे नहीं बढ़ पाते । पूरी सिद्धि तो उनके लिए असंभव होती है । मन का असहयोगी, विद्रोही, निरुत्साही, चंचल आदि होना उसकी निर्बलता के ही लक्षण होते हैं ।

जिन मनुष्यों के मन बलवान और सतेज होते हैं, वे कम समय में ही पर्याप्त विकास कर लेते हैं । जो काम हाथ में लेते हैं, उत्साह और अभिरुचि से करते हैं । इस गुण के कारण उनकी ग्राहकता भी बढ़ी-चढ़ी रहती है । क्रम-क्रम से ज्ञान और गुणों को हृदयंगम करते चले जाते हैं । मनोबली लोगों का आत्मविश्वास बड़ा प्रबल होता है । उनको संसार का कोई काम कठिन और दु:सह मालूम ही नहीं होता । आत्मविश्वास के कारण वे अपने को हर काम के योग्य समझा करते हैं । जो भी काम उन्हें सौंप दिया जाता है, उसे पूरा करके दिखलाते हैं ।

आध्यात्मिक विकास तो मनोबल के अभाव में असंभव है । आध्यात्मिक विकास के लिए वृत्तियों और इंद्रियों पर नियंत्रण करना होता है । वृत्तियाँ तथा इंद्रियाँ मन के अधीन होती हैं । यदि मन बलवान और स्वस्थ है तो उसकी सहायता से वृत्तियों और इंद्रियों को वश में किया जा सकता है । यदि मन कमजोर और अस्वस्थ है तो मनुष्य की वृत्तियाँ और इंद्रियाँ शासनहीन हो जाएँगी । वे अपनी सत्ता स्वतंत्र कर लेंगी । तब किसी दशा में भी उन्हें वशवर्ती नहीं किया जा सकता ।

आध्यात्मिक विकास के लिए अनेक तरह के नियम, संयम और

व्रतों का निर्वाह करना पड़ता है । बहुत सी साधनाओं में उतरना पड़ता है । साधना और संयम का यह कार्यक्रम केवल शारीरिक बल के आधार पर नहीं किया जा सकता । इसके लिए मनोबल की आवश्यकता होती है । जिसका मन शक्तिशाली और अनुकूल होता है, वह किसी भी विकार, वेग अथवा उद्वेग पर आसानी से नियंत्रण्ण पा सकता है । जिसका शरीर शक्तिशाली हो पर मन निर्बल हो तो ऐसे आदमी की आसुरी प्रवृत्तियाँ बड़ी प्रबल रहती हैं । वह तो अपने वेगों और विकारों को जरा देर भी नहीं रोक सकता । संसार के सारे शासन, अनुशासन, नियम और संयम मनोबल के आधार पर सफल बनाए जा सकते हैं, शारीरिक बल के आधार पर नहीं । किसी भी क्षेत्र में सफलता के लिए मानसिक बल की अनिवार्य आवश्यकता है । उसे जागृत और विकसित करते ही रहना चाहिए ।

निर्बल मन वाले कोई बड़ा काम तो दूर सामान्यतम कामों से भी घबरा जाते हैं । कोई भी प्रसंग उपस्थित होते ही वे भय, आशंका और संदेह के वशीभूत हो जाते हैं, फिर चाहे उसे उस प्रसंग में भय, आशंका अथवा संदेह का कारण हो या न हो । वास्तविकता यह है कि भय का कारण प्रसंग अथवा परिस्थितियों में नहीं होता, उसकी जड़ मनुष्य के अपने निर्बल मन में ही होती है । भय, आशंका, कायरता आदि दोषों का जन्म मनुष्य के हृदय से ही होता है । इनका हेतु वह मानसिक कमजोरी ही होती है, जो किन्हीं भूलों अथवा भ्रमों से पैदा हो जाती हैं ।

यदि भय और आशंकाओं का संबंध मनुष्य की हृदय स्थिति से न होता और उनका निवास प्रसंग अथवा परिस्थितियों में होता तो वह उस स्थिति में सभी मनुष्यों पर समान रूप से प्रतिक्रियायित होना चाहिए । जब ऐसा होता नहीं, किसी भयानक परिस्थिति को देखकर जहाँ कोई एक बुरी तरह डरकर, घबराकर भागने का रास्ता खोजने लगता है, वहाँ कोई दूसरा उसी परिस्थिति में अपने संतुलन और साहस के आधार पर

वीरतापूर्ण उसका सामना करने के लिए उत्साहित हो उठता है । यह अंतर परिस्थिति का नहीं केवल मन:स्थिति का होता है । जिसका मन निर्बल और कायर होगा, उसका घबरा जाना स्वाभाविक है । जिसका मनोबल बढ़ा-चढ़ा होगा, उसके मन में भय अथवा पलायन का भाव ही न आयेगा । वह तो ताल ठोक कर टक्कर लेने को उद्यत हो उठेगा ।

मनुष्य की सारी बाह्य क्रियाओं की जड़ उसके मन में ही होती है । मनुष्य की शारीरिक क्रियाओं का संचालक मन ही होता है । मन स्वस्थ, बलवान और संतुलित होगा, तो क्रियाएँ भी सुंदर, सतेज और व्यवस्थित होंगी । मन निर्बल और अस्थिर होगा, तो क्रिया-कलाप भी सारहीन और अस्त-व्यस्त होंगे ।

कारण कोई भी रहे हों, किन्तु जिनके मन क्षीण, निर्बल और निस्तेज हो जाते हैं, उनका सारा जीवन भय, आशंकाओं, कट्टरता और संदेहों से भरा रहता है । मनोहीन मनुष्य हर बात में भयानक घटनाओं, संभावनाओं और परिणामों की कल्पना किया करते हैं । उन्हें सब ओर, सब जगह अमंगल और अकल्याण ही दिखाई देता है । जिस प्रकार कायर और भीरु सिपाही को मोर्चे पर सिवाय मौत के और कुछ दिखाई नहीं देता, जबकि वहाँ पर विजय, यश और प्रतिष्ठा की भी संभावना होती है, उसी प्रकार निर्बल मन वाले को सब जगह असफलता और आशंका ही दीखती रहती है, जबकि सभी क्षेत्रों और कार्यों में दूसरे लोग सफल और कृतकृत्य होते रहते हैं ।

निर्बल मन वालों की विचारधारा प्रतिगामिनी हो जाती है । ऐसा मनुष्य यदि एक सफल और एक असफल आदमी को एक साथ देखता है तो भी वह असफल व्यक्ति की स्थिति से प्रभावित होता है । वह सोचता है यदि मैं भी इस काम को करूँ तो असफल हो जाऊँगा । उसका विश्वास उस सफल व्यक्ति पर नहीं जाता और न अपने लिए उसे

उदाहरण ही बना पाता है । कायर व्यक्ति जिस प्रकार मैदान छोड़कर भागने वालों को अपना आदर्श बनाता है, मोर्चे पर डटने वालों को नहीं, उसी प्रकार मनोहीन व्यक्ति भी असफल, अकर्मण्य और अग्राह्य उदाहरणों को अपना आदर्श बनाता है ।

निर्बल मन वाला व्यक्ति स्वभावत: निराशावादी होता है । उसे पग-पग पर अनर्थ ही दिखाई देता है । साधारण सी बीमारी जैसे सर्दी-जुकाम, खाँसी या बुखार आ जाने पर बुरी तरह घबरा उठता है । सोचने लगता है कहीं सर्दी बढ़कर निमोनिया न बन जाये । कहीं ऐसा न हो कि खाँसी-बुखार मिलकर हमें यक्ष्मा कर दें । जरा-सी चोट लग जाने पर उसे ऐसा लगता है मानो उसकी हड्डी टूट गई है । किसी रग में चोट आ गई है, तो सोचना चाहिए कि उसकी मृत्यु हो सकती है । नौकरी में जरा-सी भूल हो जाने पर ऐसा घबरा जाता है, जैसे उसकी बर्खास्तगी का फरमान आने वाला हो । व्यापार में जरा-सा घाटा आते ही उसे अपना घर-मकान नीलाम होता दिखाई देता है । निराशा के दोष के कारण उसे अनर्थ के सिवाय यह विचार कदाचित ही आता है कि मनुष्य की जीवनी शक्ति बड़ी बलवती होती है, यह जरा-सी बीमारी मेरा क्या बिगाड़ सकती हैं, मैं इसे उपचार, आहार-विहार और नियम-संयम द्वारा जड़-मूल से नष्ट कर दूँगा ।

नौकरी में भूल हो जाने पर वह यह नहीं सोच पाता कि धोखे से गलती हो गई, आगे के लिए सावधान रहूँगा । आवश्यक होगा तो अपनी गलती के लिए क्षमा माँगकर सारी स्थिति सुधार लूँगा । व्यापारिक घाटे के प्रसंग में वह इस प्रकार सोच करने से वंचित रहता है कि व्यापार में हानि-लाभ तो चलता ही रहता है, आज यदि हानि हो गई तो आगे लाभ भी होगा । मैं परिश्रम, पुरुषार्थ, सावधानी से साख के बल पर सारी कमी पूरी कर लूँगा । इस प्रकार अपनी निराश भावना के कारण मनो हीन

व्यक्ति प्रकाश के स्थान पर अंधकार ही देखा करता है ।

मानसिक दौर्बल्य अथवा मनोहीनता मानव जीवन के लिए भयानक अभिशाप है । अदम्य शारीरिक शक्ति और प्रचुर साधन होने पर भी मनोहीन व्यक्ति जीवन में असफल ही रह जाता है । जबकि मनोबली व्यक्ति सामान्य शारीरिक क्षमता और साधनों की कमी में भी अपने साहस, उत्साह और संलग्नता के बल पर क्षमता और साधनों की वृद्धि कर लेते हैं और संसार के सफल व्यक्तियों की पंक्ति में अपना स्थान बना लेते हैं ।

यदि किन्हीं कारणों से कोई मानसिक दौर्बल्य का बंदी बन गया है तो ऐसा नहीं कि उसका यह अभिशाप दूर नहीं हो सकता । अवश्य ही दूर हो सकता है । प्रयत्न द्वारा संसार का हर काम संभव हो जाता है । यदि कोई अपने में मनोबल की कमी पाता है तो उसे चाहिए कि वह धीरे-धीरे उन कामों में पड़ना आरंभ करे, जिनसे उसे भय लगता है और अपनी सारी प्राप्त प्रबुद्ध शक्ति को लगाकर पुरुषार्थ करे । असफल होने पर जरा भी निराश न हो और बार-बार प्रयत्न करता चले । इस प्रकार धीरे-धीरे अभ्यास द्वारा उसका मनोबल बढ़ने लगेगा और एक दिन वह सुयोग्य बन जाएगा । मोटर, रेल और हवाई-जहाज चलाना सीखने वाले आरंभ में डरते हैं किन्तु तब भी वे लगनपूर्वक उस काम में लगे ही रहते हैं । धीरे-धीरे उनका मनोबल बढ़ता जाता है और एक दिन वे इतने आत्मविश्वासी हो जाते हैं कि बिना किसी शंका के दुरूह स्थानों पर भी अपना याम चलाते चले जाते हैं ।

मनोबल मनुष्य का प्रधान बल है । इसकी वृद्धि किए बिना जीवन के क्या सामाजिक, क्या आर्थिक और क्या आध्यात्मिक किसी भी क्षेत्र में सफलता नहीं मिल सकती । अस्तु इस प्रधान बल को निरंतर बढ़ाते ही रहना चाहिए ।

मानसिक परिष्कार के दो साधन

मन बैसाखी गधे की तरह है जिसे नहला-धुला देने पर भी मलिनता प्रिय लगती है और दूसरे ही दिन धूलि में लोटकर फिर पहले जैसी गंदगी में लिपट जाता है । हाथी की आदत भी ऐसी ही होती है । नदी तालाब में बैठा स्वच्छ होता रहेगा पर जब बाहर निकलेगा तो सूँड़ में रेत भर कर सारे बदन पर डाल लेगा । न जाने गंदगी में इन्हें क्या मजा आता है ?

मन की आदत भी ऐसी ही गंदी है । स्वाध्याय और सत्संग के संपर्क में आकर कुछ समय के लिए ऐसा सज्जन बन जाता है मानो संत हो । रामायण-गीता सुनते समय आँख में आँसू आते हैं । नरक की पीड़ाएँ जानकर पश्चाताप भी होता है और मृत्यु की जब याद दिलाई जाती है तब डर भी लगता है कि मौत के दिन समीप आ पहुँचे, जिंदगी बीत चली, अब बचे खुचे दिनों का तो सदुपयोग कर लें । पर यह ज्ञान देर तक नहीं ठहरता । किसी मुर्दे को जलाने जाते हैं तब मरघट में 'श्मशान वैराग्य' उठता है । काया नाशवान होने की बात सूझती है और लगता है इस क्षणभंगुर जीवन के लिए क्यों बुराइयाँ ओढ़नी, क्यों पाप करने । क्या अहंकार करना, किस बात पर इतराना । उस समय तो यही ज्ञान सही जँचता है पर घर आते आते वह वैराग्य न जाने कहाँ हवा में उड़ जाता है और उसी पुराने ढर्रे पर गाड़ी के पहिए लुढ़कने लगते हैं ।

यही स्थिति सदा बनी रहे तो ज्ञान, परमार्थ की बात बेकार है । चिकने घड़े की तरह यदि श्रेष्ठता भीतर घुसे ही नहीं तो बाहर की लीपा-पोती से क्या काम चलेगा । ज्ञान की सार्थकता तो तब है जब उसका प्रभाव अंतःकरण पर पड़े और जीवन की रीति-नीति बदले । ऐसा न हो सका तो स्वाध्यायी अपनी भूख कहाँ बुझाएँगे ।

हमें यह ध्यान में रखकर चलना चाहिए कि मन की मलिनता हटाने के लिए कुछ बड़े और लगातार प्रयत्न करने पड़ते हैं तब कहीं वह काबू में आता है । घोड़े को सही रास्ते पर चलाने के लिए उसके मुँह में लगाम लगानी पड़ती है और हाथ में चाबुक रखना पड़ता है ऐसा ही प्रबंध मन के लिए किया जा सके तो ही वह रास्ते पर चलेगा ।

नित्य स्वाध्याय की नियमित व्यवस्था रखनी चाहिए । स्वाध्याय का विषय केवल एक होना चाहिए-आत्म निरीक्षण एवं आत्म परिशोधन का मार्गदर्शन । जो पुस्तकें इस प्रयोजन को पूरा करती हैं, आंतरिक समस्याओं के समाधान में योगदान करती हैं केवल उन्हें ही इस प्रयोजन के लिए चुनना चाहिए । कथा-पुराणों का उपयोग इस प्रसंग में निरर्थक है । पुस्तक पढ़ने की चिह्न पूजा से कुछ काम नहीं चलेगा । आज की गुत्थियों को, आज की परिस्थितियों में, आज के ढंग से किस तरह सुलझाया जा सकता है, जो उसका दूरदर्शिता पूर्ण हल प्रस्तुत करें वही उपयुक्त स्वाध्याय साहित्य है । ऐसी पुस्तकों को हमें छाँटना और चुनना पड़ेगा । उन्हें नित्य-नियमित रूप से गंभीरता और एकाग्रतापूर्वक पढ़ने के लिए समय नियत करना पड़ेगा । अंतःकरण की भूख बुझाने के लिए यह स्वाध्याय साधना नितांत आवश्यक है ।

स्वाध्याय के बाद आता है मनन-चिंतन । जो पढ़ा है उस पर बार-बार कई दृष्टिकोणों से विचार करना चाहिए और यह देखना चाहिए कि उस प्रकाश को जीवन में धारण करने के लिए क्या किया जाना चाहिए । यदि वे सत्प्रवृत्तियाँ अपने में नहीं हैं या कम हैं तो उन्हें बढ़ाने का क्या उपाय है ? आदर्शों को अपने व्यक्तित्व में घुलाने के प्रसंग पर ऊहापोह करना मनन और चिंतन का मुख्य उद्देश्य है । कमरे में नित्य झाड़ू लगाते हैं, स्नान रोज करते हैं, दाँत रोज साफ किए जाते हैं, बर्तन रोज साफ करने पड़ते हैं । मन को मलिनता की आदत से

विरत करने के लिए उसे स्वाध्याय और मनन-चिंतन के बंधन में नित्य बाँधना चाहिए । रास्ते पर चलने के लिए वह तभी सहमत हो सकेगा ।

मानसिक सुख-शांति के उपाय

मनोविश्लेषण आधुनिक समय का एक विशेष तथा नवीन विज्ञान माना जा रहा है । यह मनोविज्ञान पाश्चात्य देशों के लिए कोई नवीन शास्त्र अथवा विज्ञान हो सकता है । किन्तु भारत के लिए यह एक प्रचीन विषय है । दुख-सुख की अनुभूतियाँ, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि की वृत्तियाँ, उनका कारण एवं निवारण का उपाय इस देश का चिर परिचित तथा प्राचीन विषय है । अंतर केवल यह है कि भारत के प्राचीन वेत्ताओं ने इस विषय को दर्शन का नाम दिया था और आज के पाश्चात्य विद्वानों ने इसे मनोविज्ञान अथवा मानस-विज्ञान की संज्ञा दी है । ध्येय दोनों का मनःस्थिति द्वारा आंतरिक सुख-शांति ही रहा है ।

सुख-दुख की अनुभूति मन में होती है । अस्तु, मन की स्थिति पर सुख-दुख का आना-जाना स्वाभाविक है । पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि मनुष्य सांसारिक प्राणी है । उसका संसार के विषयों की ओर झुकाव होना अनिवार्य है । संसार में जहाँ इच्छा, अभिलाषाओं तथा कामनाओं का बाहुल्य है वहाँ शोक-संघर्षों की भी कमी नहीं है । संसार में निवास करने वाला मनुष्य इन अवस्थाओं से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता । कामनाएँ होगी, अभाव खटकेगा, फलस्वरूप मन में अशांति होगी । मन अशांत रहने पर तरह-तरह की बाधाओं तथा व्यामोहों का जन्म होगा और चिंताओं की वृद्धि होगी, जिसका परिणाम दुख के सिवाय और कुछ नहीं हो सकता ।

पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों का यह कथन किसी प्रकार भी गलत नहीं

कहा जा सकता । नि:संदेह बाधाओं का यही क्रम है जिससे मनुष्य को दुख का अनुभव करने के लिए विवश होना पड़ता है । किन्तु उनके इस कथन से जो यह ध्वनि निकलती है कि मनुष्य को दुख होना ही स्थायी अनुभूति है अथवा सांसारिक स्थिति के अनुसार पीड़ा उसका प्रारब्ध भाग है, ठीक नहीं ।

इस विषय में पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों से भारतीय दार्शनिकों का कहना है कि जीव अर्थात मनुष्य की स्वाभाविक स्थिति सुखमय है । उसका सत्य रूप आनंदस्वरूप है । संसार की बाधाएँ माया जन्य हैं जो दुख रूप में मानव मन पर आरोपित होती हैं । यदि जीव अपने सत्य स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर ले तो दुख की सारी अनुभूतियों का अत्यंताभाव हो जाए, फिर वह न तो कभी दुखी हो और न पीड़ित ।

इस प्रश्न के उत्तर में कि जब संसार में शोक-संघर्षों का अस्तित्व स्थाई है और मनुष्य सांसारिक प्राणी है तो उसे सुख प्राप्ति ही किस प्रकार हो सकती है । उसके भाग्य में मानों सदा-सर्वदा के लिए दुख शोक ही अंकित हो गए हैं । उत्तर में आधुनिक मानस वेत्ताओं का उत्तर है कि मानव-मन की कुछ अभिलाषाएँ होती हैं, इच्छाएँ तथा कामनाएँ होती हैं । जिनकी पूर्ति के लिए वह लालायित रहता है । अपनी कामनाओं की आपूर्ति में ही मन को दुख तथा अशांति होती है । यदि उसकी लालसाओं, अभावों तथा आवश्यकताओं की पूर्ति होती रहे तो मन के दुखों अथवा अशांत होने का कोई कारण ही उपस्थित न हो । इसलिए मनुष्य को सुखी होने अथवा मन को सुखी करने के लिए उसी दिशा में बढ़ना होगा जिस दिशा में उसकी लालसाओं का पूर्ति-लाभ हो । मन जो कुछ चाहता है वह उसे मिल जाये तो निश्चय ही वह सुखी एवं संतुष्ट रहे ।

सुनने में तो पाश्चात्यों का यह उत्तर बड़ा सीधा, सरल तथा

समीचीन मालूम होता है । पर भारतीय दार्शनिकों के मतानुसार वह वैसा है नहीं । उनका कहना है कि मनुष्य का मन-मानस हर समय तरंगित होता रहता है । उसकी हर तरंग की तृप्ति नहीं की जा सकती । मनुष्य के चंचल मन की वासनाओं, कामनाओं, इच्छाओं, अभिलाषाओं तथा लालसाओं का पारापार नहीं । एक की पूर्ति होते ही दूसरी उठ खड़ी होती है । साथ ही चंचल मन में असंतोष का एक दोष रहता है । किसी विषय की कामना करने पर यदि वह उसे मिल भी जाए तो वह उससे तृप्त नहीं होता उसे 'और-और' का दौरा जैसा पड़ने लगता है । इस प्रकार यह विषय की पूर्ति में भी असंतुष्ट एवं अशांत रहने लगता है और यदि एक बार उसकी और-और की तृष्णा भी बहुतायत से पूरी की जा सके तो उसे शीघ्र ही उस विषय में अरुचि होने लगती है और वह नवीन विषय के लिए उत्सुक हो उठता है ।

इस सत्य का यदि पाश्चात्य मनोवेत्ताओं के पास कोई उत्तर हो सकता है तो केवल यह है कि मन को प्रसन्न करने का इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं कि उसकी लालासाओं की पूर्ति करने का यथासाध्य प्रयत्न किया जाए । जो जिस सीमा तक इस प्रयत्न में सफल होता रहेगा वह उस सीमा तक सुखी एवं संतुष्ट रहेगा और जो जितनी सीमा तक असफल होगा वह उस सीमा तक दुखी एवं अशांत रहेगा । उसे सुखी एवं संतुष्ट कर सकने का अन्य कोई उपाय नहीं है ।

क्या पाश्चात्य मानस वेत्ताओं का यह उत्तर उपयुक्त माना जा सकता है ? इसका तो ठीक-ठीक आशय यह है कि जो अधिक शक्तिशाली, साधन संपन्न तथा चतुर है वह वांछाओं को किसी प्रकार भी पूरी कर सुखी एवं संतुष्ट रह सकता है और जो सामान्यजन है जिनके पास शक्ति, साधन तथा चातुर्य की कमी है वे दुख की दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति में ही पड़े-पड़े रोते-कलपते रहेंगे । सुखी होने का यह उपाय शाश्वत, सार्वभौम,

सार्वजनिक तथा सभ्यतापूर्ण नहीं है । निःसंदेह इसी प्रकार के दृष्टिकोण ने संसार में स्वार्थ, संघर्ष, शोषण तथा साम्राज्यवाद को जन्म दिया और बढ़ाया है । संसार में फैले अन्याय, अत्याचार तथा अनैतिकता का उत्तरदायी भी यही दूषित दृष्टिकोण ही है ।

इसके अतिरिक्त इस पाश्चात्य कथन में सत्य का अंश भी नहीं है । यदि धन-धान्य, वैभव-विभूति, साधन-सुविधा, वस्तुएँ एवं उपादान संचय कर लेने से कोई सुख का अधिकारी बन सकता होता तो संसार का कोई भी साधन संपन्न व्यक्ति दुखी अथवा असंतुष्ट नहीं दिखाई देता । उसका जीवन शांतिपूर्वक शरद-सरिता की तरह निर्विकार रूप से आनंद कलरव के साथ कल्लोल करता हुआ बहता चला जाता । इसके विपरीत असाधनवानों का कभी मानसिक समाधान ही न होता । वे सदा-सर्वदा क्षण-प्रतिक्षण अशांति एवं असुख के अनुपात में जलते-मरते रहते, जबकि ऐसा देखने में नहीं आता । एक से एक बढ़कर संपन्न व्यक्ति दुखी और एक से एक असंपन्न व्यक्ति सुखी एवं संतुष्ट देखे जा सकते हैं ।

भारतीय दार्शनिकों ने मानसिक सुख-शांति का जो उपाय-निर्देश किया है वह सत्य, शाश्वत, सार्वभौम, सार्वजनिक, सुलभ, सरल तथा सात्विकतापूर्ण है । उसका अवलंबन लेकर क्या धनी, क्या निर्धन, क्या साधन संपन्न, क्या असाधनवान, क्या निर्बल सभी समान रूप से सुखी एवं शांत रह सकते हैं । भारतीय दार्शनिकों का कहना है कि सच्ची सुख-शांति मन की मनमानी करने में नहीं । मन की इच्छाओं एवं लालसाओं की पूर्ति करते रहने से सुख-शांति की उपलब्धि कदापि नहीं हो सकती । सच्ची सुख-शांति की प्राप्ति, मन का रंजन करने से नहीं उसका दमन करने, कामनाओं एवं लालसाओं को कम करने से ही हो सकती है । लालसाओं की ज्यों-ज्यों पूर्ति की जाती है, तृष्णा बढ़ती जाती है, जिसका परिणाम असंतोष एवं अशांति के सिवाय और कुछ

नहीं होता । मन की लालसा-अभिलाषा एक दो हों और वह उन पर स्थिर भी रहे तो संभव है कि उनकी पूर्ति की जा सके और मन शांत एवं संतुष्ट रहे । किन्तु यह चंचल मन अनंत एवं असीम अभिलाषाओं का अभियुक्त होता है, ऐसी दशा में उसे किसी प्रकार भी सुखी तथा संतुष्ट नहीं किया जा सकता । मानव मन की विवशता, विपरीतता तथा वितृष्णा स्पष्ट बतलाती है कि अपने सुख के लिए उसकी न तो कोई विशेष अभिलाषा होती है और न उसकी कोई एक ऐसी आकांक्षा होती है जिसकी पूर्ति में वह वास्तव में सुखी एवं संतुष्ट हो सकता है । यही नहीं उसका किसी विषय विशेष में भी अभिन्न योग नहीं होता, जिसके प्रसंग से वह सदा-सर्वदा संतुष्ट एवं सुखी हो सकता हो । मन सदा प्रयत्नशील रहता है, वह अबोध बालकों अथवा शेखचिल्लियों की तरह क्षण भर में 'वह-यह' किया करता है । उसे डाँट-डपट कर इस 'यह-वह' से मुक्त कर देना ही उसे सुखी एवं संतुष्ट कर देना है । इस प्रकार कहना न होगा कि भारतीय दार्शनिक द्वारा बताया हुआ उपाय 'मन का दमन' ही उसे सुखी एवं संतुष्ट कर सकता है । नि:संदेह जिनका मन स्थिर एकाकांक्षी अथवा एक लक्ष्यीय होता है वे अवश्य ही अपेक्षाकृत अधिक सुखी तथा संतुष्ट रहा करते हैं । मन की विविधता, बहुलता एवं चंचलता ही उसके दुखी एवं अशांत होने का मूलभूत कारण है ।

मन के दमन के संबंध में पाश्चात्य मनोवेत्ताओं की शंका है कि मन का दमन करने से भले ही उसकी कोई तात्कालिक प्रतिक्रिया न हो पर उसकी भावना मनुष्य के अवचेतन में दबे-दबे जीवित रहती है और अनुकूल अवसर की प्रतीक्षा करती रहती है । ज्यों ही उसे कोई अनुकूल परिस्थिति मिलती है वह सक्रिय होकर विविध प्रकार के उपद्रव उत्पन्न कर देती है । मनुष्य के मानसिक उपद्रवों के पीछे अधिकांश में दमन किए गए मन की वह अतृप्ति ही रहती है जो

मनुष्य के अंतर्मन में दबी पड़ी रहती है ।

संभव है पाश्चात्यों की इस शंका में सत्य का कोई अंश हो । किन्तु इस प्रकार का उपद्रव तभी संभव है जब मन का दमन अवैज्ञानिक ढंग से किया जाता है । विषयों में अनुरक्ति रखते हुए मन की इच्छाओं का हनन अवैज्ञानिक है । इसका उचित मार्ग यही है कि विषय सेवन की हानियों पर विवेक द्वारा विचार किए जाए । ऐसा करने से विषयों से घृणा उत्पन्न होने लगेगी, जिसका परिपाक वैराग्य में होगा । विषयों के प्रति वैराग्य होते ही मन उनसे स्वभावतः विमुख हो जायेगा । इस वैज्ञानिक विधि से वश में किए हुए मन की कोई ऐसी वासना न रहेगी जो अवचेतन में दबी पड़ी रहे और अवसर पाकर उपद्रव उपस्थित करे ।

संसार में विषयों और उनके प्रति वांछाओं की कमी नहीं । उनसे हटाया हुआ मन, संभव है चतुर्दिक् वातावरण से प्रभावित होकर कभी फिर विपथी हो उठे–इस शंका से बचने के लिए विषयों से विरक्त मन को भी भगवान अथवा उनके क्रियात्मक रूप परोपकार एवं परमार्थ में नियुक्त करना चाहिए क्योंकि मन निराधार नहीं रह सकता । उसको टिकने के लिए आधार चाहिए ही । परमात्म आधार से शुभ एवं निरापद, मन की एकाग्र स्थिति के लिए अन्य आधार नहीं हो सकता । वह परम है, उसी से सब कुछ का उदय है और उसमें सब कुछ का समाधान है और फिर परमात्म रूप में एकाग्र किए हुए मन में जिस सुख–शांति एवं संतुष्टि का प्रस्फुरण होगा वह सुख होगा जो शाश्वत, अक्षय एवं स्थायी होता है, उससे बढ़कर कोई भी सुख नहीं है । इस शाश्वत सुख को पाकर फिर कुछ पाना शेष न रह जाएगा । आज का विषयी एवं चंचल मन सदा–सर्वदा के लिए संतुष्ट होकर स्थिर, एकाग्र तथा परिमूर्ण हो जाएगा । मन की यही दशा तो वह सुख–शांति है जिसे पाने के लिए मनुष्य रूप जीव जन्म–जन्मांतर से भटकता चला आ रहा है किन्तु पा नहीं रहा है ।

मानसिक शांति इस तरह बर्बाद न करें

अपने को दीन-हीन और दुखी मानकर रोते रहना, दिन-रात चिंता करते रहना अनाध्यात्मिक वृत्ति है । मानवता का अपमान और आत्मा का तिरस्कार है । जिस मनुष्य को आत्मा जैसा प्रसाद मिला हो, बुद्धि ओर विवेक जैसा पुरस्कार मिला हो, क्षमताओं और विशेषताओं से भरा सुंदर-सुगढ़ शरीर मिला हो वह मनुष्य दीन-हीन कैसे हो सकता है । दीनता-हीनता का अनुभव करना मनुष्य की अपनी मानसिक न्यूनता के सिवाय और कुछ नहीं है ।

अपने को दीन-हीन मानकर चलने वाले प्राय: जान या अनजान में नास्तिकता के अंधकार की ओर बढ़ जाते हैं । निराश, चिंतित और अप्रसन्न रहना स्वयं ही एक नास्तिकता है । आस्तिक व्यक्ति हर दशा और हर स्थिति में प्रसन्न, संतुष्ट उल्लसित रहते हैं । वे जानते हैं कि दीन-हीन और मलिन रहने से आत्मा का तेज नष्ट होता है । उसका विश्वास उठ जाता है, जो एक प्रकार से आत्महत्या ही है । आत्महत्या जैसा निकृष्ट तथा पापपूर्ण कार्य सिवाय नास्तिक के और कौन करेगा । अपनी स्थिति में संतुष्ट और प्रसन्न रहने का आस्तिक भाव रखने वाले सोचते हैं कि परमात्मा जो कुछ करता है, अच्छा ही करता है । उसके लिए दुख-सुख में मनुष्य का कल्याण ही निहित रहता है । उसका कोई भी कार्य प्रयोजन अथवा मंतव्य से रहित नहीं होता । प्रसन्नचेता व्यक्ति की परिष्कृत विचारधारा इसी प्रकार चलती है ।

वह सोचता है कि हो सकता है हमें गरीबी देकर परमात्मा हमारे धैर्य और संतोष की परीक्षा ले रहा हो । हो सकता है वह हमारे पूर्व कर्मफलों को शीघ्रता से भुगता रहा हो । हो सकता है कि हमारे लिए वह धन-संपत्ति की प्रचुरता को अहितकर समझता हो । हो सकता है कि

मुझे धनहीन बनाने में उसका यह मंतव्य छिपा हो कि मैं निरभिमान और निरहंकार रहूँ । भुक्तभोगी होकर गरीबों की पीड़ा जानने का ज्ञान प्राप्त कर सकूँ और उनकी सेवा-सहायता और संवेदना का पावन भाव प्राप्त कर सकूँ । हो सकता है, उसने हमें अधिकाधिक परिश्रमी, पुरुषार्थी, कर्मठ और सहनशील बनाने के लिए यह गरीबी और यह अभाव दिया हो ।

अपनी स्थिति के विषय में इस प्रकार की आस्तिक एवं आध्यात्मिक विचारधारा रखने वाले कभी दुखी नहीं होते । उनका आत्मविश्वास बढ़ता ही जाता है । वे अधिकाधिक परिश्रमी, दयालु और उदार बन जाते हैं । प्रतिकूल अथवा विषम परिस्थितियाँ निश्चय ही उन्हें दीन-हीन नहीं बना पातीं । ऐसे दृढ़ आत्म एवं परमात्म-विश्वासी जीवन की कठिन से कठिन परीक्षा में उत्तीर्ण होकर एक दिन अवश्य ही सुख-सौख्य के अधिकारी बनते हैं, परमात्मा की कृपा पाते और आत्मा के प्रकाश से चमत्कृत होते हैं ।

नास्तिक भाव से अपनी परिस्थितियों का रोना रोते रहने वालों का कभी उद्धार नहीं होता । उसके अनेक मोटे-मोटे कारण हैं । एक तो यह कि अपने मन, मस्तिष्क को परिस्थितियों की प्रतिकूलता को समर्पित कर उसकी चिंता करते रहने से सारी मानसिक क्षमताओं का क्षय हो जाएगा । मनुष्य निर्बल और निकम्मा बन जाएगा । चिंता और निराशा का जन्म होगा । निराशा तो अंधकार होती ही है । अंधेरे में अटकते-भटकते रहने वाले व्यक्ति आज तक न उठ पाए हैं और न आगे उठ पाएँगे ।

मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि मनुष्य के अपने भावों और विचारों के अनुसार ही उसके आसपास का वातावरण निर्मित होता है । अप्रसन्न भावों वाला व्यक्ति जहाँ जाएगा अपने लिए अप्रसन्नता ही पाएगा । निराश

विचारों के साथ विचरण करने वाले निराशा के सिवाय कुछ भी संचय नहीं कर सकते । अंतर के भाव मनुष्य के मुख, वाणी और क्रियाओं में प्रकट होते रहते हैं । चिंतित और निराश रहने वाले लोगों के मुख पर उदासी, वाणी में अनाकर्षण और क्रियाओं में अस्त-व्यस्तता समाई रहती है । ऐसे मलिन और अर्द्धविक्षिप्त व्यक्ति से न तो कोई संपर्क करना पसंद करता है और न सहयोग । उसके लिए सभी ओर नापसंदी का वातावरण बना रहता है । ऐसे बहिष्कृत व्यक्ति को अपने उद्धार की ओर से निराश ही रहना पड़ेगा ।

अपने अभावों और विषमताओं पर रोते रहने के अभ्यासी लोगों का अपने पर से ही नहीं परमात्मा पर से भी विश्वास उठ जाता है । वह सोचता है कि परमात्मा बड़ा अन्यायी और क्रूर है । उसने हमें यह परिस्थिति देकर अन्याय किया है । उसने हमारे भाग्य में दरिद्रता और दैन्य लिखकर अपनी क्रूरता का परिचय दिया है । ऐसे निर्दयी और अन्यायी परमात्मा पर विश्वास करना उसकी पूजा, उपासना करना व्यर्थ है । ऐसे अन्यायी और क्रूर परमात्मा का तो बहिष्कार हो जाना चाहिए । हीनमना व्यक्ति इस प्रकार निराश होकर जीवन का एक बहुत बड़ा संबल और धैर्य का एक बहुत बड़ा आधार खो देता है । ऐसा करके वह उस सर्वशक्तिमान का तो कुछ बिगाड़ नहीं पाता, केवल अपना ही आत्मिक विनाश कर लेता है । ऐसे परमात्मा के विरोधी नास्तिक व्यक्ति की आत्मा उसे छोड़ देती है और फिर किसी भी आपत्ति अथवा अंधकार में उसे प्रकाश की एक किरण भी नहीं दिखाई देती ।

यही क्यों, इस प्रकार का निराश, नास्तिक अपनी और भी बहुत-सी हानियाँ कर लेता है । एक तो अपनी स्थिति का दोष परमात्मा पर मढ़ने से उसकी प्रवृत्ति पुरुषार्थ की ओर नहीं होती । वह पड़ा-पड़ा भाग्य अथवा भाग्य निर्माता को कोसता रहता है और यदि कुछ करता भी

है तो असफलता और निराशा के भाव से । निदान उसके कर्तव्य में न तो दक्षता आ पाती है और न सार्थकता । सारा किया-कराया व्यर्थ चला जाता है । इस प्रकार या तो ऐसा व्यक्ति निराश नास्तिक निकम्मा बन जाता है अथवा प्रतिक्रिया से प्रेरित होकर भयानक रूप से, धन के लिए अनुचित एवं अनैतिक मार्गों का अवलंबन कर लेता है । निर्धनता से आघातित होकर धन के लिए नर से नर-पिशाच बन जाता है । ठगी, मक्कारी, शोषण ही नहीं उसे चोरी, लूट और हत्याएँ करने में भी संकोच नहीं रहता । आत्मा और परमात्मा से बहिष्कृत व्यक्ति की यह दशा हो जाना निश्चित ही मानना चाहिए ।

संसार में धन आवश्यक तो है किन्तु स्पृहणीय कदापि नहीं । धन से स्पृहा होने के दो कारण हैं । एक लोभ और दूसरा ईर्ष्या । लोभ की तो कोई सीमा होती ही नहीं । सौ से बढ़कर वह हजार पर पहुँच जाता है, हजार से लाख पर और लाख से करोड़ों पर जा पहुँचता है । इस वृत्ति से न तो विराम होता है और न पर्याप्तता । लोभ ग्रसित व्यक्ति को यदि संसार का सारा धन-वैभव दे दिया जाय तो भी वह संतुष्ट नहीं होगा । उसे कमी ही दीखती रहेगी । लोभ में प्रसार का एक और भी बड़ा दोष होता है । इसको जितना संतुष्ट किया जाता है, यह उतना ही बढ़ता जाता है और अंत में लोभी को आमूल नष्ट करके ही ठंडा पड़ता है ।

ईर्ष्यालु व्यक्ति भी जीवन में संतोष से वंचित रहता है । ईर्ष्यालु व्यक्ति के पास यदि पर्याप्त साधन होते भी हैं, तब भी दूसरों के प्रति ईर्ष्या और स्पर्धा के कारण उसे वे कम ही मालूम होते हैं । वह जब भी किसी दूसरे की स्थिति अपने से अच्छी देखता है, तभी अपने को गरीब, दीन-हीन अनुभव करने लगता है । यही नहीं, यदि वह किसी को नीचे से ऊपर उठते देखता है, तब भी जलने लगता है और सोच उठता है कि यदि यह अवसर जो अमुक व्यक्ति को मिल रहे हैं, मुझे मिल जाते तो

बड़ा अच्छा होता । ऐसे अभागे व्यक्ति जीवन में स्थायी शोक-संतापों के सिवाय और क्या पा सकते हैं ? यदि धन की एषणा और उसके दोषों से बचना हो तो लोभ और ईर्ष्या के पिशाच से अपने को मुक्त करना ही होगा ।

अपने को दीन-हीन मानकर असंतुष्ट, निराश और चिंतित रहने का कोई कारण मनुष्य के पास नहीं है, सिवाय इसके कि यह उसकी अपनी मनोहीनता ही होती है । मनुष्य परमात्मा का अंश आत्मावान प्राणी है । उसके भीतर शक्तियों, क्षमताओं और आनंदों का भंडार भरा हुआ है । आनंद, सुख, संतोष और संपन्नता, धन, वैभव, संपत्ति और संपदा बाह्य उपादानों में नहीं है । वे तो मनुष्य की आत्मा में निवास करने वाले दैवी भाव हैं । यदि इनका निवास बाह्य साधनों में होता तो संसार के हर धनवान और संपत्तिशील व्यक्ति को सुखी संतुष्ट और आनंदित होना चाहिए, जबकि ऐसा होता कदापि नहीं । वे भी गरीबों और अभावग्रस्तों की तरह ही दुखी और निरानंद देखे जाते हैं ।

सुख, संतोष और संपन्नता का निवास आत्मा में है । इनके लिए मनुष्य को आत्माभिमुख ही होना चाहिए । जो अपने अंदर जाकर आत्मा को खोजेगा, वह आनंद अवश्य पाएगा, इसमें संदेह नहीं । संसार में सबसे अधिक सुखी, संतुष्ट और आनंदित रहने वाले ऋषि-मुनि शायद साधनों के नाम पर सबसे ज्यादा गरीब रहते थे । वृक्ष की सूखी डालों और पत्तों से बनी कुटी, पत्तों और छालों के चीवर और कंद-मूल, फल-फूलों का भोजन बस इसके सिवाय उनके पास कौन से रत्न, रेशम अथवा व्यंजन होते थे । तब भी वे कितने तुष्ट, सुखी और संपन्न रहते थे । इसका एकमात्र कारण यही था कि वे बाह्य वैभव की स्पृहा नहीं करते थे, वे अपने आनंद को उसी आत्मा में खोजते और पाते थे, जिसमें उसका वास्तविक निवास होता है ।

जो मनुष्य आज मनुष्य रूप में स्थित है, उसने पहले चौरासी लाख निकृष्ट योनियों की दैनीयता का भोग किया है । तरह-तरह के ऐसे त्रास पाए हैं, जिनको दूर करने का न तो उसके पास उपाय था और न अधिकार । उन चौरासी लाख भोग योनियों का बंदीगृह काटकर इस कर्मयोनि में, जिसमें वह अपना भाग्य ही आप नहीं बना सकता, बल्कि आनंद कंद सच्चिदानंद परमात्मा को पा सकता है, आकर अपने को दीन-हीन माने तो इसे आश्चर्य ही माना जाएगा ।

इतना ही क्यों, यदि इस आध्यात्मिक तथ्य को छोड़ दें तब भी तो मनुष्य के लिए अपनी स्थिति से दुखी और असंतुष्ट होने का कोई कारण नहीं है । जो अपनी स्थिति में दुखी हो रहा है, उसे सोचना चाहिए कि क्या उसकी स्थिति संसार में सबसे गई-गुजरी है ? क्या उस जैसी अथवा उससे खराब स्थिति में और कोई नहीं है ? यदि ऐसा हो तब तो एक बार माना जा सकता है कि उसका खेद करना ठीक है । किन्तु ऐसा होता कदापि नहीं । यह असंभव है ।

संसार में एक से एक बढ़कर धनवान और एक से एक बढ़कर गरीब और अभावग्रस्त पड़े हैं । अपनी स्थिति पर असंतुष्ट रहकर रोने से पहले मनुष्य को अपने से गए-बीते और गरीब लोगों की ओर देखना चाहिए । उसे संतोष करना चाहिए और उस परमपिता परमात्मा को शतशः धन्यवाद देना चाहिए कि यदि उसने सौ से गिरी स्थिति मुझे दी है तो हजारों से अच्छा भी बनाया है । संसार में एक से एक भयानक स्थितियाँ हो सकती हैं, जिनमें मनुष्य का एक क्षण जीवित रहना कठिन हो जाय, परमात्मा का आभार मानना चाहिए कि उसने आपको उस भयावह, असहनीय और घातक स्थिति में न रखकर ऐसी स्थिति में रखा है, जिसमें आप अपने पर विचार कर पा रहे हैं, गलत-सही किन्तु परमात्मा को कोस पा रहे हैं । यह कम नहीं है कि आप अभी उस

स्थिति में हैं, जिसमें आपकी चेतना, आपके विचार और आपकी अनुभव शक्ति सुरक्षित है अन्यथा संसार में ऐसी स्थितियाँ भी हैं, जो पागल, विक्षिप्त, पंगु, गूँगा, अपाहिज और शून्य कही जाती हैं । अपनी स्थिति पर संतोष करिए, आगे बढ़ने के लिए पुरुषार्थ करिए और परमात्मा को धन्यवाद दीजिए कि उसने आपको मनुष्य बनाकर बड़ा भारी अनुग्रह किया है ।

सुखाकांक्षा में भटकती अविकसित मनःस्थिति

अविकसित मनुष्य को सुख की आकांक्षा रहती है और वह उन्हीं के साधनों को ढूँढ़ने-सँजोने में लगा रहता है चेतना की दृष्टि से विकसित स्तर ऊँचा उठा होता है और उसे इतने से समाधान नहीं मिलता । उसे अपने विकसित स्तर के अनुरूप परिस्थितियाँ चाहिए, उसकी आकांक्षा आनंद पाने की होती है । इसके बिना उसे अतृप्ति और अशांति ही बनी रहती है ।

सुख इंद्रियजन्य है और पदार्थों के संपर्क से मिलता है । जिह्वा को स्वाद चाहिए, मूत्रेन्द्रिय को घर्षण संवेदना, उसकी तृप्ति अभीष्ट प्रयोजन पूरा करने वाले पदार्थ, शरीर मिल जाने से हो जाती है । तृप्ति के क्षण सुखद लगते हैं, पर इससे पूर्व और पश्चात जलन एवं पश्चाताप की मनःस्थिति बनी रहती है । जब तक अभीष्ट वस्तु न मिले तब तक उसकी अभिलाषा इतनी उद्दीप्त रहती है जिसे लगभग बेचैनी ही कहा जा सकता है । स्वादिष्ट पकवान जिन त्यौहारों और दावतों में मिलने हैं, जिस होटल में जाकर खाए जाने हैं उनके लिए प्रतीक्षा में जो समय लगता है, उसमें उत्सुकता और ललक ही उभरी रहती है और मन अशांत बना रहता है ।

जितने क्षणों में वे स्वादिष्ट वस्तुएँ खाई जाती हैं, उतनी देर संतोष मिलता है । पेट भर चुकने के बाद अरुचि हो जाती है और परोसने वाले का आग्रह अस्वीकार करना पड़ता है । आतुरता में स्वभावतः कुछ अधिक खा लिया जाता है ऐसी दशा में पेट गड़बड़ाने लगता है और दूसरी बार उस कष्ट को याद करके स्वादिष्ट पकवान की अपेक्षा हल्की और बिना स्वाद की वस्तुएँ खाने की व्यवस्था बनानी पड़ती है । उस भारी आहार को टालना पड़ता है । न मिलने से पूर्व आतुरता और मिलने के बाद घृणा, असंतोष यही प्रतिक्रिया सुख साधनों में से प्रत्येक के संबंध में प्रस्तुत होती है ।

इन्द्रिय सुखों में दूसरा है–काम सुख । जननेन्द्रिय की तृप्ति का भी यही हाल है । मुद्दतों पहले से रंगीन सपने मस्तिष्क में घुमड़ते हैं । संभव असंभव का विचार किए बिना बहुरंगी स्वप्न परियाँ मस्तिष्क के इर्द-गिर्द उड़ती रहती हैं । वह जलन और आतुरता का समय है । संयोग के कुछ क्षण मादक भी हो सकते हैं । इसके उपरांत शरीर और मन में जो शिथिलता आती है, उससे दूसरा आग्रह अस्वीकार करने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं रहता । उन्माद का आवेश उतर जाने पर यह भी प्रतीत होता है कि जीवन रस की मात्रा इस तरह नष्ट होते जाने से असमय में ही वृद्धता, रुग्णता तथा अकालमृत्यु का वरण करना पड़ेगा । थोड़ी भी समझदारी जीवित रही तो इस प्रकार का पश्चाताप निश्चित रूप से उग्र होगा । पत्नी का स्वास्थ्य ख़राब करने और बच्चों का अनावश्यक भार लादने की बात भी कभी न कभी सूझती ही है । तब प्रतीत होता है कि कुछ क्षणों की मादकता के लिए कितना अनर्थ कर गुजरते हैं । सामयिक धिक्कार तो कष्ट देता ही है । प्रतिक्रिया के फलस्वरूप जब अपना और पत्नी का स्वास्थ्य बिगड़ता है, बढ़ी हुई गृहस्थी की जिम्मेदारियाँ वहन करने में जो आर्थिक और मानसिक कठिनाइयाँ सामने

आती हैं वे भी ऐसी आत्म-ग्लानि उत्पन्न करती हैं जो विषय सुख के कुछ क्षणों की तुलना में बहुत ही मँहगी और भारी पड़ती हैं ।

सुख की आकांक्षा ठाठ-बाठ की, सजधज की, खर्चीली अमीरी की विडंबनाएँ रचने के लिए बाध्य करती हैं । दूसरे लोग हमें धनवान सुसंपन्न और बड़ा आदमी समझकर प्रभावित-आतंकित हों, इज्जत प्रदान करें, इसी अभिलाषा से अनावश्यक वस्तुएँ इकट्ठी करनी पड़ती हैं और धनिकों जैसी शान-शौकत का ठाठ जमाना पड़ता है । यह कितना मँहगा और खर्चीला पड़ता है इसे भुक्तभोगी ही जानता है । मस्तिष्क की कुशलता और आर्थिक सुविधा का अधिकांश इसी जंजाल में खर्च हो जाता है, यहाँ तक कि कर्ज लेने और बेईमानी करने के लिए भी बाध्य होना पड़ता है । शान-शौकत अच्छी जरूर लगती है पर वह कितनी मँहगी पड़ती है इसे देखा जाय तो प्रतीत होगा कि जिन साधनों को उपयोगी दिशा में नियोजित करके अपना, परिवार का, समाज का भारी हित साधन किया जा सकता था उन्हें लगभग पूरी तरह अहंकार को तृप्ति देने के लिए जुटाए जाने वाले साधनों में ही समाप्त कर दिया गया ।

सुख की परिभाषा में अपने लिए उपयोगी स्नेह-संबंधों को बढ़ाने की आकांक्षा भी आती है । इस आवश्यकता की पूर्ति अविकसित स्तर के लोग पुत्र प्राप्ति के साथ जोड़ते हैं । उनकी मान्यता रहती है कि जो अपने रक्त से पैदा होगा वही हमारी सहायता करेगा, सुख देगा, वही वफादार होगा । चूँकि कन्याएँ समर्थ होने पर दूसरे घर चली जाती हैं, सहायता देने का सपना पूरा नहीं करतीं इसलिए बुरी लगती हैं । कन्याओं की तुलना में पुत्र का अच्छा लगना इसी दृष्टिकोण पर अवलंबित है कि विश्वस्त और चिरस्थाई सेवक, सहायक उपलब्ध हो सके । संतान न होने पर घर सूना लगने का और कोई कारण नहीं, केवल वह क्षुद्रता ही एकमात्र निमित्त है जिसमें विश्वस्त मित्र पाने की

अभिलाषा उद्दीप्त रहती है । किन्तु मोहग्रस्त मनोभूमि में वैसा ही कहाँ बन पड़ता है । हमारे स्वार्थों का घटाटोप बालकों के मन पर सहज ही प्रभाव डालता रहता है । बड़े होने पर वे पक्के स्वार्थी निकलते हैं और पिता की सेवा करने की अपेक्षा अपने स्त्री-बच्चों में ही निरत हो जाते हैं । बूढ़े बाप के पास जो कुछ हो उसे झटक लेने के उपरांत वे यही चाहते हैं कि जितनी जल्दी यह बूढ़ा खूसट मौत के मुँह में चला जाय उतना ही अच्छा । सेवा-सहायता और वफादारी संतानों से पाने का स्वप्न अधिकांश लोगों का धूल धूसरित होता ही सामने आता है ।

अविकसित लोगों की सुख लिप्सा जिन उपाय-आधारों को अपनाने के लिए बाध्य करती है वे सभी थोथे सिद्ध होते हैं । उनका आरंभ जलन के, अतृप्ति और अशांति के साथ होता है और अंत ऐसी स्थिति में होता है जिसे निराशा, खीज, पश्चात्ताप एवं ग्लानि का ही नाम दिया जा सकता है । सुख की आकांक्षा ही मनुष्य को धन उपार्जन, इंद्रिय सेवन, संतानोत्पादन तथा ठाट-बाट जमाने, वाहवाही लूटने के लिए प्रेरित करती है । जन-साधारण को इन्हीं प्रयोजनों में लगा हुआ भी देखते हैं । पर प्रतीत होता है कि किसी का मनोरथ पूरा नहीं होता, हर किसी को मृगतृष्णा में भटकने जैसी निराशा ही लेकर बिदा होते देखते हैं ।

धन की लालसा कितनी तीव्र होती है ? योग्यता, परिस्थिति और साधनों का अभाव रहते हुए भी प्रचुर मात्रा में धन कमाने की अभिलाषा के लिए एकमात्र उपाय बेईमानी ही रहती है । इससे भी आकांक्षा कहाँ पूरी हो पाती है ? जो कमाया जाय वह भी आत्मग्लानि भरा होता है, पाप की प्रतिक्रिया सामाजिक असम्मान, राजदंड और ईश्वरीय न्याय के रूप में भी आती है । उसके भय से अंतरात्मा को मुक्ति नहीं मिल सकती । इस प्रकार अनीति की कमाई से वैभव भले ही बढ़ जाय किन्तु अंत:

करण में ऐसी जलन और अशांति बनी रहती है जिसे तथाकथित धनीमानी व्यसन और व्यभिचार की आड़ लेकर दबाने का प्रयत्न करते हैं । नशाघरों, क्लबों में, होटलों में वे आत्मा की अतृप्ति को झुठलाने के लिए ही जाते रहते हैं । इसमें भी सफलता उन्हें कुछ क्षण के लिए ही मिलती है । स्वाभाविक अशांति बार-बार उभर आती है और मानसिक स्तर को विकृत-विक्षिप्त जैसा बना देती है । धनियों के उद्धत स्वभाव और उद्धत आचरण का सहन-समर्थन करने के लिए चापलूस मुसाहिबों की भीड़ साथ में चिपकी रहती है । उन्हीं से उन्हें थोड़ी राहत मिलती है अन्यथा स्पष्ट वक्ता समीक्षकों के साथ रहने पर तो वे अपने को अर्द्धविक्षिप्त ही अनुभव कर सकते हैं । अनीति उपार्जित वैभववानों की यह दुर्गति कहीं भी बड़ी आसानी से देखी जा सकती है ।

जहाँ धन एकत्रित होता है, वहाँ घात लगाने वालों की चांडाल चौकड़ी एकत्रित होने लगती है और फिर उसके मृदुल-कटुक दाव-पेंच सामने बिछे देखकर मनुष्य शतरंज जैसी उलझन में फँस जाता है । सरकारी टैक्स अधिकारी, चंदा खाऊ रिश्तेदार और मित्र, चोर और गुंडे न जाने कितनी तरह की तरकीबें लड़ाकर धन अपहरण करने के जाल बिछाते हैं । यह घातें इतनी जटिल, मृदुल, बहकावे, छल-आतंक की धमकी आदि के चक्रव्यूहों से भरी होती है कि फिर दिए बिना कोई रास्ता ही नहीं रह जाता । इच्छा से नहीं अनिच्छा से देना पड़ता है, स्वेच्छा से नहीं मजबूरी ही सामने होती है । पैसे को कमाना जितना कठिन है उससे हजार गुना कठिन उस संग्रह को सुरक्षित रखना है । सदुपयोग करने लायक विवेक-बुद्धि न होने पर उसका दुरुपयोग हो सकता है । अनुपयोग की स्थिति में भी तो नष्ट ही होकर रहता है ।

अविकसित मनःस्थिति वाले व्यक्ति की गतिविधियाँ इन्हीं विडंबनाओं में केन्द्रीभूत रहती हैं । वह इन्द्रियभोग, कुटुंबवर्द्धन, धन

संग्रह अहंता के परिपोषण के अतिरिक्त और कहीं सुख अभिलाषा की मूर्ति देखता ही नहीं, सो इन्हीं में निरत रहता है । मनोरंजन के लिए उसे व्यसन और व्यभिचार के उद्धत आचरण ही अपनाने पड़ते हैं । चिंतन, निर्णय और दृष्टिकोण में विकृति भरी रहने के कारण दिशा ठीक बन ही नहीं पाती और सुख अभिलाषा की पूर्ति के लिए किए गए समस्त कार्य प्राय: दुखदायक ही सिद्ध होते हैं । अभिलाषा पूरी न होने तक आतुर-व्याकुलता कष्ट देती है । पूर्ति के कुछ क्षण हड़बड़ी में बीतते हैं संतोषपूर्वक तृप्ति के क्षणों का भी आनंद ले सकना संभव नहीं होता । पूर्ति के पश्चात संचय एवं उपयोग का इतना अधिक वजन बढ़ता है कि गर्दन टूटने लगती है तथा रीढ़ चरमराने लगती है । सरल-स्वाभाविक जीवन का आनंद न जाने कहाँ चला जाता है । कृत्रिमता का, अनावश्यक उत्तरदायित्वों का बोझ इतना भारी पड़ता है कि उसे वहन करते करते भारवाही बैल, घोड़े या गधे से भी दयनीय स्थिति में जा फँसते हैं और उसी जंजाल में मरते, खपते, दम तोड़ते हैं ।

भोग को भोगने की आकांक्षा तृप्त कहाँ होती है, वे भोग ही मनुष्य को भोग लेते हैं और निचोड़े हुए नीबू के छिलके की तरह मानव जीवन के सुर दुर्लभ सौभाग्य को कूड़े-कचड़े के गर्त में ले जाकर फेंक देते हैं । दाद खुजाने में कष्ट भी होता है, एक विशेष तरह का मजा भी आता है । कुत्ता सूखी हड्डी चबाता है और उसके घर्षण से अपने ही मसूड़े से निकलने वाले रक्त को पीकर सोचता है हड्डी में से खून निकला और उसे पीकर लाभ कमाया । पर वस्तुत: इससे विपरीत ही है, वह पाता कुछ नहीं, सूखी हड्डी चबाकर खोता ही खोता है । सूखी हड्डी के टुकड़े उसके पेट में जाकर पोषण नहीं दर्द ही प्रदान करते हैं । सुख अभिलाषा तो ठीक है पर ओछे स्तर अपना कर अविकसित मन:स्थिति

के लोग जो रीति-नीति अपनाते हैं उससे उनके पल्ले कुछ नहीं पड़ता। अशांति और असफलता पर पश्चात्ताप करते हुए, सिर धुनते हुए ही वे इस संसार से बिदा होते हैं।

मानसिक असंतुलन स्वास्थ्य संकट का मूल कारण

अमेरिका के मनःशास्त्री डॉ० जान ए० शिंडलर ने अपनी पुस्तक 'रुग्णता की गहराई' में लिखा है-"आहार-विहार की अनियमितता से जितने रोग होते हैं उसकी तुलना में मानसिक असंतुलन के कारण उत्पन्न होने वाले रोगों की संख्या कहीं अधिक है।"

शरीर की संरचना ऐसी है कि वह बाहरी हमलों, टूट-फूटों और प्रतिकूलताओं से जूझती और छुट-पुट गड़बड़ियों का मुकाबला करती रह सके। अन्य प्राणियों को भी प्रतिकूलताओं का सामना करना पड़ता है और आघातों को सहने तथा कष्टकर स्थिति में होकर गुजरने के लिए विवश होना पड़ता है। इतने पर भी उनके शरीर गड़बड़ाते नहीं, पटरी बिठा लेते हैं और टूट-फूट को संभाल कर अपनी गाड़ी चलाते रहते हैं। चोटें तो लगती हैं, पर उनमें से किसी को बीमारियों के चंगुल में फँसकर कराहते रहने की कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता।

मनुष्य ही है जो मानसिक असंतुलन उत्पन्न करता है और उनके विक्षोभों के फलस्वरूप शरीर के विभिन्न अवयवों की सामान्य कार्य पद्धति में अवरोध उत्पन्न करता है। फलतः बीमारियाँ उसे आ घेरती हैं।

शरीर यात्रा में रक्त संचार का कितना ही महत्व क्यों न हो वस्तुतः उसका नियंत्रण केन्द्र मस्तिष्क में रहता है। हृदय पोषण देता है यह सही है, पर उसमें प्रोत्साहन एवं नियमन की क्षमता नहीं है, यह कार्य

मस्तिष्क का है । उसी के ज्ञान तंतु मेरुदंड के माध्यम से समस्त शरीर में फैलते हैं और निर्देश देकर सारे काम कराते हैं । मस्तिष्क में नींद आने लगे तो अन्य अंग सहज ही शिथिल होते चले जाते हैं । आकुंचन-प्रकुंचन, निमेष-उन्मेष, श्वास-प्रश्वास जैसी क्रियाएँ अचेतन मन:संस्थान के इशारे पर ही चलती है । जीवनी शक्ति भोजन से नहीं वरन मनोगत साहसिकता और प्रसन्नता के आधार पर मिलती और पनपती है । यदि इस केन्द्र में गड़बड़ी चले तो उसका प्रभाव शरीर के विभिन्न अवयवों पर पड़े बिना रह नहीं सकता ।

रोगों की जड़ शरीर में हो तो काय चिकित्सा से सहज सुधार होना चाहिए । कुपोषण की पूर्ति आहार से होनी चाहिए और विषाणुओं को औषधि के आधार पर हटाने में सफलता मिलनी चाहिए । किन्तु देखा जाता है कि जीर्ण रोगियों की काया में रोग इस बुरी तरह रम जाते हैं कि उपचारों की पूरी-पूरी व्यवस्था करने पर भी हटने का नाम नहीं लेते । एक के बाद दूसरे चिकित्सक और नुस्खे बदलते रहने पर भी रुग्णता से पीछा नहीं छूटता । इलाज के दबाव में बीमारियाँ रंग-रूप बदलती रहती हैं, पर जड़ें न कटने से ठूंठ हुए फिर से नई कोंपलों की तरह उगते रहते हैं । जड़ों को खुराक मिलती रहे तो टहनियाँ तोड़ने से भी पेड़ सूखता नहीं है ।

शरीर और मन:शास्त्र के मूर्धन्य विशेषज्ञ डा० हेन्स सीली ने अपने अस्पताल के प्राय: तीन हजार रोगियों की कई प्रकार से जाँच-पड़ताल की और वे इस नतीजे पर पहुँचे कि पुराने रोगियों में से अधिकांश की व्यथा मन:क्षेत्र की विकृतियों से संबंधित थी । दवा-दारू के प्रयोग उन पर कारगर नहीं हुए । किन्तु जब मानसोपचार आरंभ किया गया और उनके चिंतन क्षेत्र में घुसी हुई अनुपयुक्त मान्यताएँ एवं विचारणाएँ हटाई गईं तो वे बिना दवा-दारू के ही अच्छे होने लगे और खोया हुआ

स्वास्थ्य पुनः वापस प्राप्त कर सके ।

सत्ताईस साल के प्रयोगों के उपरांत डा० सीली का निष्कर्ष यह है कि गर्दन एवं कमर दर्द के रोगियों में से ७५ प्रतिशत, थकान, तनाव और सिरदर्द वालों में से ८० प्रतिशत, उदर रोगियों में ७० प्रतिशत, गाँठों की जकड़न वालों में ६४ प्रतिशत और रक्तचाप हृदय रोगियों में ६० प्रतिशत मानसिक असंतुलन के कारण इन व्यथाओं में फँसे और मूल स्थिति यथावत रहने के कारण अनेक चिकित्साएँ परिवर्तित करते रहने पर भी अस्वस्थ ही बने रहे । व्यथा से छुटकारा तब मिला जब वे अपनी मान्यताओं और असंतुलनों से छूटने के उपाय अपनाने पर सहमत हुए ।

जर्मनी की मनोविज्ञान शोध परिषद ने संपन्न और निर्धन परिवार के एक-एक सौ बच्चे स्वास्थ्य परीक्षण के लिए चुने । पाया गया कि सुविधा एवं असुविधा के कारण उनके स्वास्थ्य में कोई अंतर नहीं पड़ा । बढ़िया और घटिया भोजन के रहते हुए भी उनके बीच स्वास्थ्य संबंधी कोई बड़ा अंतर नहीं पाया गया । किन्तु जब दूसरे सौ-सौ बच्चों को इस दृष्टि से जाँचा गया कि पारिवारिक परिस्थितियों का उन पर क्या असर पड़ता है तो तथ्य बिल्कुल दूसरे ही सामने आए । मालूम पड़ा कि जिनके परिवार में तनाव, मनमुटाव, असंतोष, विग्रह रहता था, वे बच्चे न केवल दुर्बल पाए गए वरन् बीमारियों तथा बुरी आदतों के भी शिकार बने हुए थे । इसके विपरीत जिन घरों में स्नेह, सौजन्य और सहयोग का वातावरण था वे न केवल शारीरिक दृष्टि से सुदृढ़ वरन् मानसिक दृष्टि से भी कुशल पाए गए ।

अब यह तथ्य क्रमशः अधिक उजागर होता जा रहा है कि शरीर मात्र रासायनिक पदार्थों का ढाँचा नहीं है वरन उसकी दृढ़ता एवं क्षमता पर मन:स्थिति का भारी प्रभाव रहता है । आहार-विहार का कितना ही

महत्व क्यों न हो, पर मानसिक संतुलन के बिना सुविधाओं और अनुकूलताओं के रहते हुए भी सुदृढ़ आरोग्य प्राप्त कर सकना संभव नहीं । इस निष्कर्ष पर पहुँचने के उपरांत अब चिकित्सा क्षेत्र के मूर्धन्य यह सोचने लगे हैं कि मानवी स्वास्थ्य की समस्याओं का स्थाई समाधान करने के लिए उसके चिंतन में हल्कापन लाने का प्रयत्न किया जाना चाहिए । जो मनोविकारों से दबे हुए हैं उन्हें उनसे छुड़ाने की प्रक्रिया को चिकित्सा विज्ञान में सम्मिलित करना चाहिए ।

अमेरिकी मनोवैज्ञानिक चिकित्सक रेबेका ने अनेकों रोगियों की चिकित्सा के उपरांत यह निष्कर्ष निकाला कि बेहद अहंकार की भावना से शरीर के कई अंग कठोर हो जाते हैं और व्यर्थ अहंकारी जीवन जीने तथा असली रूप छिपाने से हृदय कठोर हो जाता है और मूत्राशय में पथरी रोग पनपता देखा गया ।

घृणा, ईर्ष्या, क्लेश-कलह के भावों से भीतर नसों में रस या रक्त प्रवाह मंद हो जाता है । इन्हीं महिला चिकित्सक का मत है कि निःशंक, प्रसन्न और निर्भय भावना शरीर के भीतरी अंगों में तेल मालिश का काम करती है ।

देखा गया है कि मन के उतार-चढ़ावों का प्रभाव शरीर पर तत्काल पड़ता है । क्रोध आने से चेहरा लाल पड़ जाता है, रक्त संचार की गति बढ़ जाती है, शरीर कांपने लगता है । इसके विपरीत शोक के समय चेहरा पीला पड़ जाता है । आदमी चिंतित व बेहाल हो जाता है । बार-बार क्रोधित या आवेशित होने से आमाशय, पक्वाशय, संचार तंत्र, तिल्ली, जिगर, रक्तवाहनियों आदि पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है, जबकि भय व शोक के समय रक्तवाहनियाँ संकुचित हो जाती हैं, रक्त प्रवाह धीमा पड़ जाता है, जिससे नाना प्रकार की बीमारियाँ धर पकड़ती हैं ।

भले या बुरे विचार अपना प्रभाव धीरे-धीरे मनुष्य की मनःस्थिति पर छोड़ते-छोड़ते स्थाई रूप धारण कर लेते हैं जिससे उनके ही अनुरूप मन का स्थायी निर्माण होता है । सद्विचारों से जहाँ शारीरिक, मानसिक कार्यक्षमता की वृद्धि होती है उसके विपरीत कुविचारों का दुष्परिणाम यह होता है कि रक्तचाप, मधुमेह, अपच, नपुंसकता आदि के रोग प्रकट होने लगते हैं । इस वर्ग के रोगों को मानस रोगों की श्रेणी में रखा जा सकता है ।

स्वास्थ्य समस्या का वास्तविक समाधान खोजने वाले रोगियों, विचारकों, एवं चिकित्सकों को इस तथ्य को समझना होगा कि आरोग्य का स्थिर रहना एवं गड़बड़ाना अधिकतर मानसिक संतुलन पर निर्भर रहता है । अवांछनीय चिंतन से बचकर हल्की-फुल्की जिंदगी जीने की नीति पसंद की जा सके तो जागृत दीखने वाली स्वास्थ्य समस्या को सरलतापूर्वक सुलझाया जा सकता है

मुद्रक : युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा (उ.प्र.)